Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रधान-सम्पादक
यशदेव शल्य

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

वर्ष 34, अंक 2
जुलाई-दिसम्बर, 2020

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Wardha Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वर्ष 34, अंक 2 जुलाई–दिसम्बर, 2020

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाणमासिक

प्रधान–सम्पादक
यशदेव शल्य

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

परामर्शदाता

1. **रामजी सिंह,** 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. **अशोक वाजपेयी,** सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. **रमेशचन्द्र शाह,** एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. **अशोक वोहरा,** सी–748, विकासपुरी, नई दिल्ली–110018

प्रधान-सम्पादक

1. **यशदेव शल्य,** पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 0141–2707493

सम्पादक

1. **अम्बिकादत्त शर्मा,** सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498
2. **प्रदीप कुमार खरे,** आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal), U.G.C. Care List : Arts & Humanities, Sl.No. 310

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 100/–
संस्थाएं : रु. 200/–

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 2000/–
संस्थाएं : रु. 5000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

यशदेव शल्य एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनुक्रमणिका

1. सनातन गाँधी : 'महात्मा इन मेकिंग' पर पुनर्विचार 5
अम्बिकादत्त शर्मा

2. सर्वात्मवादी राष्ट्रवाद की अन्तर्यात्रा : टैगोर, अरविन्द और गाँधी 23
विश्वनाथ मिश्र

3. उच्चतमदर्शन की खोज में 61
सच्चिदानन्द मिश्र

4. बौद्धदर्शन में त्रिकायव्यवस्था 85
मूल लेखक : आचार्य ज्ञानश्रीमित्र
हिन्दी रूपान्तरकार : वृजकिशोर त्रिपाठी

5. पद्मश्री मुकुन्द लाठ 144
ऐसों को देख कर ही कहा गया होगा 'अमृतं प्रिय दर्शनम्'
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है?क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

11. यशदेव शल्य की सभी मौलिक कृतियों का संग्रह अब 'यशदेव शल्य समग्र' शीर्षक से चार खण्डों में उपलब्ध है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य 1,600/- तथा चारों खण्डों का मूल्य 6,400/- है। प्रकाशक :- डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., वेदश्री, एफ- 395, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015, दूरभाष 011-25453975

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सनातन गाँधी : 'महात्मा इन मेकिंग' पर पुनर्विचार

अम्बिकादत्त शर्मा

अहिंसक सत्यान्वेषी भारत की थाती 'महात्मा गाँधी' को अनेकों नजरीये से देखने–समझने की कोशिश की गई है। उनका जीवन जबकि एक खुली किताब की तरह है। इतनी खुली किताब कि उनके जीवन को पब्लिक और प्रायवेट में विभाजित नहीं किया जा सकता। ऐसे पारदर्शी गाँधी को समझने–परखने का एक बड़ा ही प्रसिद्ध और प्रचलित तरीका 'महात्मा इन मेकिंग' का है। इसका मतलब यह है कि उन्होंने उस मुकाम को धीरे–धीरे विकसित करते हुए प्राप्त किया है और तब जाकर दुनिया उन्हें महात्मा गाँधी के रूप में जान पायी। यह गाँधी के महात्मा बनने को एक आनुभविक ज्ञानमीमांसा की पद्धति से समझना है। डार्विन के विकासवाद और आधुनिक मनोविज्ञान की कसौटी पर एक व्यक्ति को समझने की कोई दूसरी पर्यवेक्षणीय ज्ञानमीमांसा हो भी नहीं सकती। परन्तु, एक साधारण व्यक्ति को जिस ज्ञानमीमांसा से समझा जाता है, उसी पद्धति से महात्मा के स्वत्व को भी क्या समझा जा सकता है ? आज गाँधी का सम्पूर्ण जीवन दुनिया के सामने पूरी तरह अनावृत है। क्या उस जीवन–वृत में विन्यस्त व्यक्तित्व निर्माण की कोई ऐसी अभियांत्रिकी निकाली जा सकती है, जिसका विनियोग कर किसी व्यक्ति को महात्मा गाँधी बनाया जा सके। यदि ऐसा किया जाना सम्भव नहीं, तब 'महात्मा इन मेकिंग' के तौर–तरीकों से गाँधी को समझने की यही सबसे बड़ी विफलता है। अतः आईये, 'महात्मा इन मेकिंग' की ज्ञानमीमांसा पर पुनर्विचार करते हुए व्यक्तित्वान्तरित गाँधी को समझने का प्रयास करें।

I

यदि हम विकासमान महात्मा गाँधी की इस अवधारणा को स्वीकार कर लेते हैं जो आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से व्यक्ति को समझने का

उन्मीलन – वर्ष 34, अंक 2, जुलाई–दिसम्बर 2020
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सही तरीका है; तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि उनके विचारों में समय–समय पर बदलाव आया है। उन्होंने अपने दृष्टिकोणों में संशोधन और परिमार्जन किया है। इसके चलते उनके विचारों में, पहले और बाद के विचारों में, एकवाक्यता नहीं देखी जा सकती। इतना ही नहीं, कोई गाँधी के विचारों में, उनके कर्मों में और समय–समय पर लिए गये महत्त्वपूर्ण निर्णयों में प्रकट–अप्रकट विरोधाभास भी देख सकता है। इन विरोधाभासों के बीच कोई गाँधी को इस रूप में भी देख–समझ और परख सकता है कि वे एक रणनीतिक व्यक्ति थे। परन्तु उनकी रणनीति को कुटिलता या राजनीतिक चतुराई कहा जाय अथवा बुद्ध और कृष्ण का उपाय–कौशल। कुछ लोग गाँधी का मूल्याँकन भारत की आजादी के आन्दोलन की परिसीमा में करते हैं और उस वृहत्तर परिप्रेक्ष्य को नजरन्दाज कर देते हैं जिसकी प्रयोगभूमि उन्होंने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को बनाया था। इसतरह एक बार जब हम भूल और सुधार की प्रक्रिया में धीरे–धीरे विकसित होते हुए गाँधी की इस धारणा को पूर्वकल्पित कर लेते हैं तो उन्हें देखने–समझने के उपर्युक्त सभी नजरिये, वास्तव में, 'महात्मा इन मेकिंग' के ही उप–तरीके बन जाते हैं।

महात्मा गाँधी को देखने–परखने का एक तरीका यह भी हो सकता है कि उन्हें विकसित होता हुआ, बनता हुआ न मानकर अभिव्यक्तिकरण की प्रक्रिया में प्रकट होते हुए गाँधी के रूप में समझा जाय। इस दृष्टि से यह कहना उचित होगा कि विकसित होता हुआ 'गाँधी' महात्मा नहीं बल्कि अभिव्यक्त होता हुआ 'महात्मा' वास्तव में गाँधी है। तब तो हमें उनके विचार, कर्म और निर्णयों में एकवाक्यता के सूत्र खोजने होंगे। हमें यह भी परखना होगा कि गाँधी का वह 'सत्य' क्या है जिसकी अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में उनके जीवन–क्रम को समझा जाय। साथ ही साथ यह भी कि गाँधी उस 'सत्य' में कब और कैसे प्रतिष्ठित हुए। यदि गाँधी को उस नजरिये से देखा–समझा जाय तो 'महात्मा इन मेकिंग' के नजरीये से बनने वाली गाँधी विषयक समझ की सभी निष्पत्तियों के अर्थ ही बदल जाएँगे। तब गाँधी को और गहरे में समझना होगा, ताकि वैचारिक अनन्यता में घटित होते हुए उनके जीवन–क्रम को देखा जाना सम्भव हो सके। इसके लिए उस सत्य को भी जानना ज़रूरी है जिस सत्य का आत्मक्रियान्वयन करते हुए स्वयं उन्होंने अपने जीवन को सत्य के साथ प्रयोग कहा है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दुनिया भर के बड़े–बड़े लोगों ने और उनके ही अन्तरंग व्यक्तियों ने गाँधी के विषय में जो वक्तव्य दिये हैं, वह भी इतने अलग–अलग हैं कि एक ही सख्श के विषय में उन्हें चकित करने वाले वक्तव्य कहे जा सकते हैं। अलबर्ट आइन्स्टाइन जैसे महान् वैज्ञानिक ने उनके विषय में कहा था कि आने वाली पीढ़ी को इस सच्चाई पर विश्वास कर पाना मुश्किल होगा कि मोहनदास करमचन्द गाँधी नाम का कोई व्यक्ति वैसे ही हाड़–मांस का पुतला रहा होगा, जैसे हम और आप हैं। यह वक्तव्य गाँधी के विषय में प्रशंसा के भावातिरेक में दिखा गया कोई औपचारिक वक्तव्य नहीं है। ऐसा समझना भी नहीं चाहिए। यह उद्‌गार उस व्यक्ति के हैं जो वैज्ञानिक विश्वदृष्टि का सबसे बड़ा पुरोधा था और जिस वैज्ञानिक विश्वदृष्टि के साभ्यतिक विन्यास के गाँधी अपने समय के अकेले सबसे बड़े विरोधी थे। गाँधी का यह अकेलापन जीवन भर उनके साथ रहा। यहाँ तक कि घोर राजनीतिक जीवन में भी, क्योंकि राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व भी वह आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता के विरोध की इसी भूमि पर खड़े होकर कर रहे थे। गौर तलब है कि इस भूमि पर वह अकेले ही खड़े थे। इसी तरह महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने गाँधी को सत्य का मूर्तरूप (एम्बोडिड ट्रूथ) कहा था। आर.सी. जेनर[1] जैसा प्रसिद्ध धर्म वैज्ञानिक भी अपनी रचनाओं में गाँधी को सन्दर्भित करते हुए "और युधिष्ठिर फिर लौट आया" कहते हैं। पता नहीं गाँधी की मृत्यु के बाद दुनिया भर के लोगों ने किन–किन प्रशंसापरक शब्दावलियों में उन्हें अपनी श्रद्धांजलि दी थी। सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन की सम्पादित पुस्तक में वैसे सभी उद्‌गारों को देखा जा सकता है। यदि उनमें से अधिकांश को प्रशंसापरक औपचारिक वक्तव्य ही क्यों न मान लिया, लेकिन ऊपर मैंने जिन व्यक्तियों को रेखांकित किया है, वे प्रशंसापरक उद्‌गार से कुछ अधिक अनौपचारिक वक्तव्य हैं और गाँधी की वास्तविकता का स्पर्श करते हैं।

इसके विपरीत गाँधी के विषय में कुछ अप–वक्तव्य भी दिये जाते रहे हैं, जो उनके महत्त्व को कम ही नहीं करते बल्कि सिरे से खारिज करते हैं। ऐसे वक्तव्य भी कम चौंकाने वाले नहीं हैं। 'ग्रेट सोल : गाँधीज स्ट्रगल विद इण्डिया' के लेखक लेली वेल्ड[2] ने गाँधी को अपनी टिप्पणी में टाँकते हुए कहा है कि गाँधी को उनके ही विरुद्ध उद्धृत करना मुश्किल नहीं है। किसी व्यक्ति के ज्ञान और क्रिया में स्ववचन व्याघात, स्वज्ञान व्याघात और स्वक्रिया व्याघात बताना उसे विरुद्धों की एकता में रूपान्तरित कर देने जैसा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

होता है। इसी तरह पंडित जवाहर लाल नेहरू तो यह कहने से भी बाज नहीं आते कि "गाँधी जी वाज ए पराडॉक्सीकल पर्सनालिटी"। यह उस व्यक्ति का वक्तव्य है जिसे गाँधी ने मानों अपना उत्तराधिकरी ही समझा था। यह वही नेहरू हैं जिन्होंने अमेरीकी राजदूत गैल्ब्रेथ को कहते–कहते यह कह गये थे कि मैं भारत का अन्तिम ब्रिटिश शासक (वायसराय) हूँ। 'राष्ट्रपिता' नामक पुस्तक में अपने मंतव्य की तफसील करते हुए नेहरू कहते हैं कि "गाँधी जी में एक जबरदस्त आत्मविरोध है। मैं समझता हूँ, सभी विख्यात व्यक्ति कुछ सीमा तक ऐसे ही होते हैं। वर्षों तक मैं इस समस्या से उलझा रहा हूँ कि क्या कारण है कि पददलितों के लिए इतना प्रेम और सहानुभूति रखते हुए भी वह एक ऐसी प्रणाली का समर्थन करते हैं जो उनको जन्म देती है। ऐसी प्रणाली जो उन्हें पैरों तले कुचलती है। क्या कारण है कि अहिंसा के लिए इतना तीव्र लगन होने के बावजूद वह ऐसे राजनीतिक और सामाजिक ढ़ाँचे का समर्थन करते हैं जो पूरी तरह से हिंसा और जोर–जबरदस्ती पर अवलम्बित है.... वे एक दार्शनिक अराजकतावादी हैं।"[3] इधर हाल के ही वर्षों में सुधीर चन्द्र[4] ने एक बड़ी ही चर्चित पुस्तक लिखी है, जिसका शीर्षक है – गाँधी एक असम्भव सम्भावना। मानो गाँधी नो–प्लेस के अर्थ में उटोपियन (Utopian) हैं, गुड–प्लेस के अर्थ में इयोटोपियन (Eutopian) नहीं। इतना ही नहीं, आज तो गाँधी को कुत्सित, लाँछित करने वाली अनेकों पुस्तकें बाजार में उपलब्ध हैं और धड़ल्ले से बिक रही हैं। अंग्रेजों ने तो एक समय 'हिन्दस्वराज' पर प्रतिबन्ध लगाया था लेकिन आजादी के बाद किसी भी सरकार ने राष्ट्रपिता को लाँछित करने वाले साहित्यों पर प्रतिबन्ध लगाने का साहस नहीं दिखायी है।

इसी तरह गाँधी अपने विचारों, निर्णयों और कर्मों से भी हमें चौंकाते हैं। उनके दक्षिण अफ्रीका के जीवन में, फिर भारत में आने के बाद आश्रम के जीवन में और राजनीतिक निर्णयों में हमें अनेकों ऐसे प्रसंग और उदाहरण मिलते हैं जहाँ हमारी साधारण मानवोचित समझ हतप्रभ होकर रह जाती है। महात्मा गाँधी को उनकी निजता में समझने के लिए उनके जीवन के ऐसे प्रसंगों को ठीक से समझना जरूरी है। उदाहरण के लिए अपने हत्यारों को भी क्षमा कर देना। हत्या के प्रयास में छुरा सहित गोडसे[5] के पकड़े जाने पर उससे यह कहना कि कुछ सप्ताह तुम हमारे साथ रहो ताकि मैं समझ सकूँ कि तुम्हारे मन में मेरे प्रति इतना बैर क्यों है। इसी तरह हिंसा हो जाने के कारण चौरी चौरा सत्याग्रह आन्दोलन को बंद कर देना। इस पर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

रिचर्ड नामक एक अंग्रेज द्वारा यह पूछे जाने पर कि मान लें कि इंगलैंड में सशस्त्र विद्रोह भड़क उठता है और उससे आपके देश की स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त होता है, तब आप क्या करेंगे ? गाँधी का उत्तर था कि तब मैं सबसे पहले उस विद्रोह को रोकने, शांत करने का प्रयत्न करूंगा।[6] यहाँ यह समझा जा सकता है कि किसी संघर्ष की वैधता इस बात में नहीं कि विरोधी पर कितनी तेज चोट की जाय बल्कि वह इस बात से आती है कि आपका संघर्ष आपके अपने जीवन या कर्म और प्रयास के सत्य को किस हद तक पुष्ट करता है। एसे ही द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के उपरांत शाम को अंग्रेज मजदूरों से गाँधी का मिलने जाना, जबकि ब्रिटिश सरकार द्वारा उन्हें ऐसा करने से यह कह कर मना किया गया था कि उन्हें जान का खतरा है। इसी प्रकार नाजी जर्मनी का युद्ध में ब्रिटेन के विरोध में सहायता किये जाने का समर्थन नहीं करना और काश्मीर में सेना भेजने का समर्थन करना भी अनेकों घटनाओं में ऐसी घटना है जो एक साधारण समझ वाले व्यक्ति को चौंका देता है।

II

तब महात्मा गाँधी को कैसे समझा–परखा जाय। कहीं ऐसा तो नहीं कि गाँधी के विषय में सबके अपने–अपने झूठ हैं और गाँधी का सच आज भी कहीं छुपा हुआ है। हम अपने 'व्यक्ति' होने की परिसीमा में गाँधी को समझते हैं और इस तरह अपनी ही समझ में उन्हें टाँकते हुए झूठ–पर–झूठ उनपर आरोपित करते चले जाते हैं। वास्तव में गाँधी के व्यक्तित्व को उन प्रचलित कोटियों और पदावलियों में समझा ही नहीं जा सकता जिनमें आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा मनुष्य को समझने के लिए हमें अभ्यस्त कर दिया गया है। आम तौर पर मनुष्य आत्म रक्षा, आत्म प्रेम और आत्म स्वार्थ से संचालित होता है, लेकिन गाँधी के जीवन में अनेकों प्रसंग और उदाहरण मिलते हैं जिन्हें देख कर ऐसा लगता है कि इन कोटियों को उनके व्यक्तित्व पर लागू नहीं किया जा सकता। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में और कार्ल पॉपर के शब्दों में उनके जीवन के वैसे प्रसंगों को 'सुपर एरोगेन्ट ड्यूटी' कहना ही उचित प्रतीत होता है। यहाँ गाँधी के जीवन के एक प्रसंग को उदाहरित करना बहुत ही प्रासंगिक होगा।

एक समय बापू कस्तूरबा के साथ कटक के गाँवों में प्रवास पर थे। जब कभी वे गाँवों में प्रवास पर होते तो रात्री विश्राम के लिए किसी एक गाँव में उनका आश्रम हुआ करता था। एक दिन जब वह दिनभर गाँवों में प्रवास

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के उपरांत संध्या को आश्रम लौटे रहे थे तो रास्ते में उन्होंने देखा कि किनारे पर स्थित एक घर में बाहर से दरवाजे में कुण्डा बन्द किया हुआ है लेकिन अन्दर से कुछ लोगों के घर में होने का संकेत उनकी आपस में बातचीत से मिल रहा है। कस्तूरबा से उन्होंने कहा कि देखो माजरा क्या है ? कस्तूरबा जाकर दरवाजा खटखटाईं तो खिड़की से एक महिला ने झाँका और दोनों को प्रणाम किया। कस्तूरबा उस महिला से पूछीं कि तुम्हें पता नहीं कि तुम्हारे गाँव में बापू आये हुए हैं। सब लोग उनसे मिलते हैं पर क्या तुम्हें उनसे मिलने की इच्छा नहीं होती ? घर में बंद महिला ने अश्रुपूरित नेत्रों से कहा कि इस गाँव और गाँव के लोगों के लिए सौभाग्य की बात है कि यहाँ बापू आये हैं। हम भी उनसे मिलना चाहते हैं लेकिन क्या करें ? इस घर में हम तीन महिलाएँ रहते हैं और तीनों के बीच एक ही साड़ी है। अतः एक समय में कोई एक ही हममें से बाहर जा सकता है। दो लोगों को मजबूरन घर के अन्दर ही रहना पड़ता है। इसलिए बाहर जाने वाली महिला दरवाजे को बाहर से बंद कर जाती है। बापू यह सब चुपचाप सुनते रहे। कुछ बोल नहीं रहे थे। चुपचाप वे कस्तूरबा के साथ आश्रम लौट आये। रात भर आश्रम में मौन और बहुत बेचैन रहे। दूसरे दिन जब सुबह बापू गाँवों में जाने के लिए निकले तो उसी दिन से उन्होंने आधी धोती पहनने और आधी धोती ओढ़ने वाला लिबास जीवन भर के लिए धारण कर लिया। आज दुनिया महात्मा गाँधी को उसी वेश में पहचानती है।[7] वह दुनिया भर के नंगे–निहंगों को वस्त्र प्रदान नहीं कर सकते थे लेकिन उनकी पीड़ा से तदात्म स्थापित कर स्वयं अतिरिक्त वस्त्रों का त्याग और न्यूनतम वस्त्रों से काम चलाने का व्रत उन्होंने उसी दिन से ले लिया। इस घटना से गाँधी के व्यक्तित्व पर जो प्रकाश पड़ता है उससे समझा जा सकता है कि आधुनिक मनोविज्ञान से परिभाषित होने वाले व्यक्ति की तरह उन्हें नहीं समझा जा सकता। इस घटना के प्रति एक साधारण व्यक्ति की जो प्रतिक्रिया हो सकती थी, उससे सर्वथा भिन्न प्रतिक्रिया का बापू की चेतना में घटित होना ही इस बात को दर्शाता है कि वह चेतना की उच्च्व भूमि पर प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। हमें यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यह सम्भव है कि चेतना के दो भिन्न धरातल पर स्थित दो व्यक्ति ऐसा कुछ करें जो बाहर से देखने पर एक ही प्रकार का कर्म दिखाई पड़े, परन्तु दोनों के कर्म की कर्मवत्ता और औचित्य एक तरह के मूल्याँकन का विषय नहीं होता।[8]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

महात्मा गाँधी एक विचार–पुरुष, एक प्रज्ञा–पुरुष थे। ऐसे प्रज्ञा–पुरुष जिनमें भारत का सनातन सत्य अपनी सोल्लहों कलाओं के साथ अवतरित हुआ था। केवल अवतरित ही नहीं बल्कि युगानुरूप नवीकृत भी हुआ था। निश्चय ही उनसे पहले और उनके समकालीन अनेक महापुरुष इस देश में हुए और उन सब में वही सनातन सत्य न्यूनाधिक रूप में अभिव्यक्ति पाता था, परन्तु गाँधी में वह सत्य अपनी सम्पूर्णता में भास्वरित हुआ था। किसी व्यक्ति को किसी समृद्ध परम्परा के धारक अथवा वाहक के रूप में समझना अलग बात है लेकिन गाँधी तो ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें देख–समझ कर सनातन भारत को समझा जा सकता है। वह आत्मा की आवाज की तरह सनातन सत्य थे। आत्मा की वह आवाज जिसे अकसर हम सुन नहीं पाते, लेकिन जो हमारे भीतर सदैव और समान रूप से बोलती है। इसके लिए न तो धरती और न ही हाड़–मांस के देह की जरूरत होती है। बस आश्चर्य यही है कि वह आवाज गाँधी के देह को माध्यम बनाकर भारत की वसुन्धरा पर प्रकट हुई थी। इसे भारत भूमि का पुण्य संभार ही कहिए कि समय–समय पर यहाँ ऐसे महापुरुष पैदा होते रहते हैं— सम्भवामि युगे–युगे।

भारत की आजादी के आन्दोलन के वे जननायक थे। सम्भवतः वे एक मात्र जननायक थे। उनकी प्रभावमत्ता और जनस्वीकृति इतनी अधिक थी कि वह इस आन्दोलन को किसी भी दिशा में मोड़ सकते थे। परन्तु, ऐसे राजनीतिक आन्दोलन के प्रति भी उनकी संघर्ष–दृष्टि सर्वथा विलक्षण थी। वह अहिंसक सत्याधारित दृष्टि थी। दुनिया भर के स्वतन्त्रता संघर्ष के इतिहास को सन्दर्भ बनाकर यह बात कही जा सकती है कि ऐसे संघर्षों में 'स्वतन्त्रता' अपने आप में स्वतःप्रामाण्य रूप से साध्यभूत होती है। इतना स्वतःसाध्य कि उसे प्राप्त करने के साधनों के विषय में भी प्रश्न उठाना प्रासंगिक नहीं रह जाता। परन्तु, गाँधी ने जब यह प्रश्न उठाया कि स्वतन्त्रता यद्यपि साध्यभूत है, फिर भी उसे प्राप्त करने के साधनों के औचित्य पर विचार करना उतना ही आवश्यक है जितना कि स्वतन्त्रता वांछनीय है। इस बात को लेकर स्वतन्त्रता आन्दोलन को गति दे रहे अन्य नेताओं से उनके गहरे मतभेद उभर कर सामने आये थे। उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता को भारत की अपने 'स्व' में प्रतिष्ठा के रूप में देखा था, जिसमें राजनीतिक पराधीनता अनेकों पराधीनताओं में एक विशेष प्रकार की परांधीनता थी। यदि स्वतन्त्रता के इस सत्य की अनदेखी कर भारत को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

स्वतन्त्रता मिल भी जाती है तो गाँधी के नजरीये से वह एक दूसरे प्रकार की परतन्त्रता ही होगी। उनके इस अभिप्राय को उस पत्र के माध्यम से समझा जा सकता है जिसे उन्होंने 1945 में नेहरू को लिखा था –"मेरा विश्वास है कि यदि भारत को सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है तो उसके माध्यम से संसार को भी स्वातंत्र्य लाभ प्राप्त होना है।" इस दृष्टि को आत्मसात् किये हुए वह भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने वालों में ही अकेले नहीं थे बल्कि पूरी दुनिया में शायद अकेले व्यक्ति थे। इस बात को लेकर बाल गंगाधर तिलक से भी उनके गहरे मतभेद थे। तिलक ने यह स्वीकार किया था कि वे सत्य के ऊपर स्वतन्त्रता का वरण् करना चाहेंगे। जबकि गाँधी स्वतन्त्रता के ऊपर सत्य को चुनने के प्रबल पक्षधर थे।[9] तिलक की इस दृष्टि के बीज उनके गीताभाष्य में भी मौजूद हैं और इस बात को ध्यान में रखकर न केवल उसे पढ़ा जाना चाहिए बल्कि मूल्याँकन भी किया जाना चाहिए कि तिलक की यह दृष्टि कृष्ण के "धर्म–विभाग" की अवधारणा से कितनी संगत है जिसके तहत वह अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए सत्य की भी अनदेखी करने का सुझाव देते हैं। इतना ही नहीं, लाला लाजपत राय उस समय के सबसे बड़े नेता थे। इतने बड़े कि वह गाँधी को परामर्श देने की हैसियत रखते थे। उन्हीं दिनों जब वह जेल से छूट कर बाहर आये तो उन्होंने कहा था कि यदि गाँधी इस विचार को नहीं छोड़ते हैं तो उन्हें लाला लाजपत राय से अलग होना पड़ेगा। अतः स्वतन्त्रता के पीछे सत्य को स्वतन्त्रता से ऊपर रखने की और उस साध्यभूत सत्य की प्रतिष्ठा के लिए अहिंसक साधनों से स्वतन्त्रता प्राप्त करने की जो गाँधी की निष्कम्प मूल्य–दृष्टि थी, वह उन्हें दुनिया भर में अकेले व्यक्ति के रूप में खड़ा कर देती है। यहाँ स्वतन्त्रता के सत्य का मतलब व्यक्ति और राष्ट्र का अपने–अपने 'स्व' में प्रतिष्ठित होना है। यही सच्ची स्वतन्त्रता है। महज राजनीतिक स्वतन्त्रता उसी सीमा तक सार्थक होती है जब वह सच्ची स्वतन्त्रता का सोपान बन सके।

III

ऐसे महात्मा गाँधी को न तो अवतारी पुरुष, और न ही देवता ही कहा जा सकता है। परन्तु उन्हें हम और आप की तरह साधारण व्यक्ति कहना भी उचित नहीं होगा। वास्तव में गाँधी व्यक्तित्वान्तरित (ट्रांसपर्सन्लाइज़्ड) व्यक्ति थे। परन्तु, उनके व्यक्तित्वान्तरण को कैसे समझा जाय ? शायद इसे समझे बिना उनके विषय में हमारी समझ आधी–अधूरी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ही रहेगी और हम अपने झूठ को गाँधी पर आरोपित ही करते रहेंगे। लावोत्से अपने घर के दरवाजे के बाहर बैठे थे। एक पत्ते को उन्होंने पेड़ से टूटकर गिरते हुए निहारा और निहारते हुए ही वे 'ताओ' में प्रतिष्ठित हो गये। इस छोटी–सी घटना से मानो सदा के लिए 'ताओ' में उनका व्यक्तित्वान्तरण हो गया। ऐसे ही सिद्धार्थ गौतम ने बीमार, वृद्ध और मृत व्यक्ति की अर्थी जाते हुए देखा। ऐसे दृश्यों को हम और आप अकसर देखा करते हैं, लेकिन उनके प्रति हमारी साधारण चेतना में क्या प्रतिक्रिया घटित होती है? हम थोड़े समय के लिए दुःखी होते हैं, कदाचित् क्षणिक वैराग्य होता है और ज्यादातर हम इनसे यथासम्भव बचाव के उपायों को खोजते हैं, या फिर सतर्कता बरतते हैं। परन्तु, गौतम की चेतना में सर्वथा भिन्न और मौलिक प्रतिक्रिया घटित हुई और वह प्रतिक्रिया इतनी गहरी कि उन्हें 'सर्व दुःखम्' का साक्षात्कार हो गया। वे इस दुःख का मूल कारण जानने के लिए महाभिनिष्क्रमण ले लिये। इस तरह गौतम का बुद्धत्व में व्यक्तित्वान्तरण हो गया और आजीवन महाकरुणा के सम्पादन में निरत हो गये, ताकि प्राणिमात्र को दुःख से निदान मिल सके।

इसी तरह ब्रह्मचारी शंकर कालाड़ी से चलकर नर्मदा के तीरे–तीरे ओंकारेश्वर पहुँचे। वहाँ उन्होंने गोविन्दपाद से आचार्य गौडपाद के अद्वैत दर्शन में दीक्षित हुए। अद्वैत–विचार के प्रचार का गुरू–आदेश प्राप्त कर जब वह काशी पहुँचे तो एक दिन अपने शिष्यों के साथ मणिकर्णिका घाट पर गंगा स्नान कर सीढ़ियाँ चढ़ रहे थे। रास्ते में श्वपच (चांडाल) अपने चार कुत्तों के साथ खड़ा था। शिष्यों ने उस अस्पृश्य श्वपच से कहा हटो–हटो। श्वपच ने अकड़कर पूछा। किसे हटने के लिए कह रहे हो – आत्मा को या शरीर को। फिर आचार्य शंकर की ओर देखते हुए श्वपच ने पूछा कि अपने शिष्यों को अद्वैत की, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" की शिक्षा देते हो और वही मुझसे रास्ता छोड़ने के लिए कह रहे हैं। जब चराचर जगत् ही ब्रह्म है तो कौन किसे छोड़कर कहाँ जाय। बलिष्ट श्वपच के हाथ से रस्सियाँ खींचते हुए कुत्ते भौंकने लगे। मानो वे आचार्य शंकर और उनके शिष्यों से अद्वैत की सही व्याख्या पूछ रहे हों। मध्याह्न सूर्य की तप्त किरणों से दैदीप्यमान शंकर के भाल से स्वेदकण छलक पड़े और सनन्दनादि शिष्य सहमे हुए अपने आचार्य की ओर देखने लगे। चारों दिशाएँ द्वादशवर्षीय दण्डी की प्रतिक्रिया सुनने के लिए मानो थम गईं। कषायवेशधारी ने अद्वैत का उदान भरते हुए कहा – जो चैतन्य सभी दिव्य शक्तियों में स्पंदित होता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है वही क्षुद्र जीव–जन्तुओं में भी।[10] इस तरह आचार्य शंकर अद्वैत के बौद्धिक ज्ञान से अद्वैत के पौरुष ज्ञान में रूपान्तरित होकर अद्वैत बोध में व्यक्तित्वान्तरित हुए।

मुझे ऐसा लगता है कि गाँधी का व्यक्तित्वान्तरण भी उस घटना के साथ हुआ था जब वह प्रिटोरिया जा रहे थे और नेटाल की राजधानी मेरित्जबर्ग स्टेशन पर प्रथम श्रेणी के रेल–कोच में यात्रा करते हुए श्वेतजातीय अँग्रेज रेलगार्ड से पिटे थे और धक्का देकर उन्हें डब्बे से बाहर फेंक दिया गया था। एक युवक दक्षिण अफ्रिका की अनजान धरती पर राजी–रोटी की तलाश में अग्रसर हो रहा था कि एक यात्रा के दौरान उसे श्वेतजातीय रेलगार्ड ने धक्का देकर इसलिए बाहर फेंक दिया, क्योंकि वह प्रथम श्रेणी की टिकट पर यात्रा कर रहा था। ठंडी रात, निशीथ क्षण और प्रकाशहीन स्टेशन पर मृत्यु के भय से काँपते हुए उस युवक का स्वयं से कथोपकथन शुरू हुआ। यह तो नियति का आह्वान है। यह तुम्हारे पुरुषार्थ पर ही निर्भर है कि तुम इस कालसिंह के शिकार बनोगे या स्वयं कालसिंह बनकर अपनी सही भूमिका को धारण करोगे। क्या नियति तुम्हें इस बहाने कोई भूमिका देना चाहती है और यह अवसर तुम्हारे लिए एक पुरुषार्थ का अवसर है। यह नियति की बली है, शेष सब कुछ और सब कोई निमित्त मात्र। फिर क्या था– इस घटना की गहरी वेदना से उस युवक को आधुनिक सभ्यता के आद्यन्त हिंस्र स्वरूप का साक्षात्कार हो गया। वह इस मामूली घटना को उसके मूलगामी स्वरूप में पहचानते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि "यह एक सभ्यता में गहराई से पैठे हुए 'महारोग' का लक्षण है।" यह महारोग है – हिंसा। वह अपने को संकल्पबद्ध किया कि यदि इस गहरे रोग को मिटाने की शक्ति मुझमें है तो हमें उस शक्ति का उपयोग करना चाहिए। वह युवक इसी संकल्प को जीवन–पथ बना कर बढ़ता ही गया और बाद में इसी युवक को दुनिया महात्मा गाँधी के नाम से जानी।

गाँधी के जीवन की इस घटना की तफसील करते हुए कोई इस बात को समझ सकता है कि एक साधारण व्यक्ति की चेतना में इसकी प्रतिक्रिया किस रूप में घटित हो सकती थी। स्वयं गाँधी एक वकील थे और इस भूमिका में वह इस घटना को अंजाम देने वाले श्वेतजातीय रेलगार्ड पर मुकदमा कर सकते थे। सरकार से हरजाना माँग सकते थे। वह एक पत्रकार लेखक भी थे और इस घटना पर दूसरे दिन अखबार में लेख लिख

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सकते थे। इस तरह सरकार और जनता के संज्ञान में इस अन्याय को उजागर किया जा सकता था। वह एक छोटे–मोटे नेता भी थे और इस भूमिका में नुक्कड़ सभाएँ कर सकते थे, ताकि जनता को इस प्रकार के दमन और अन्याय के प्रति एकजूट किया जा सके। उनके सम्पर्क भारत के वैसे कुछ नेताओं से भी थे जो ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ सक्रिय थे। इस भूमिका में वह भारत के नेताओं को उकसा सकते थे कि दक्षिण अफ्रिका में भारतीयों के साथ किस प्रकार का अन्याय ब्रिटिश राज द्वारा किया जा रहा है। परन्तु, उन्होंने ऐसा कुछ भी नहीं किया। उनके मन पर इस घटना की कितनी मौलिक और मूलगामी प्रतिक्रिया हुई कि उन्हें एक पूरी की पूरी सभ्यता के हिंस्र स्वरूप का साक्षात्कार हो गया और उस हिंस्र सभ्यता के विकल्प में अहिंसक सभ्यता बोध में वह प्रतिष्ठित हो गये। मानो इस बोध में ही उनका व्यक्तित्वान्तरण हो गया। एक बार डॉ. जॉन मोट नाम का अमरीकी डॉक्टर जो था तो मिशनरी लेकिन गाँधी से मिलने वह सेवाग्राम आया था। उसने गाँधी से एक प्रश्न पूछा था कि आपके जीवन में घटित सबसे रचनात्मक अनुभव क्या है? तब गाँधी ने उत्तर में मेरित्जबर्ग की घटना की तफसील करते हुए कहा था कि "मैं सक्रिय अहिंसा में उसी दिन प्रतिष्ठित हो गया था।"[11] ऋग्वेद की एक ऋचा है – तद पश्यत् तद अभवत् तदासीत्– उसने देखा, वही हो गया, क्योंकि वह वही था। व्यक्तित्वान्तरण की प्रक्रिया का गहरा संकेत इस ऋचा में अन्तर्भूत है। परन्तु गाँधी की यह सक्रिय अहिंसा क्या है? वास्तव में सक्रिय अहिंसा चेतना की वह अवस्था है जिसमें परद्रोह का सर्वथा अभाव हो। जब हमारी चेतना में परद्रोह का लवलेश भी नहीं रहता तब अहिंसा अपने समस्त आनुषंगिक गुणों, अर्थात् प्रेम, दया, करुणा, मैत्री, क्षमा, अभय और शील इत्यादि के साथ अपने–आप सक्रिय हो उठती है। चेतना में परद्रोही भाव ही हिंसा का मूल है और उसका सर्वथा अभाव ही सक्रिय अहिंसा में प्रतिष्ठा है। भारतीय परम्परा में इस परद्रोही प्रवृत्ति को मनुष्य का इतना बड़ा दुर्गुण माना गया है कि जो पृथ्वी पर्वतों, नदियों और समुद्रों का बोझ सहन करते हुए भी अपने को बोझिल नहीं महसूस करती, उससे एक परद्रोही व्यक्ति का बोझ सहा नहीं जाता।[12]

व्यक्तित्वान्तरण किसी घटना के निमित्त अचानक ही घटित होती है। जब ऐसा घटित होता है तो फिर वह व्यक्ति उस बोध अथवा सत्य से कभी स्खलित या च्युत नहीं होता जिसका वह इस घटना के निमित्त साक्षात्कार किया रहा होता है। यह बात सही है कि ऐसा सबके साथ घटित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नहीं होता। उन्हीं विरले व्यक्तियों के साथ ऐसा होता है जिनमें पात्रता होती है। उनके जीवन में पहले से ही इस प्रकार के कुछ लक्षण दिखाई पड़ते हैं। यहाँ यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि सभी व्यक्तित्वान्तरित व्यक्तियों का सत्य एक ही नहीं होता। अलग–अलग सत्य में, बोध में उनका व्यक्तित्वान्तरण हुआ करता है। गाँधी का व्यक्तित्वान्तरण आधुनिक सभ्यता के सांगोपांग हिंस्र स्वरूप और उसके विकल्प में उन्मीलित अहिंसक सभ्यता के बोध में हुआ माना जा सकता है। उनके सम्पूर्ण जीवन में इसी बोध को रूपायित और चरितार्थ होते देखा जा सकता है। मानो यही उनके जीवन का नियोग बन गया। यहाँ नियोग का तात्पर्य एक ऐसी बोध–भूमि से है जो किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण क्रियाकलापों को अपलक रूप से उत्प्रेरित करती है। यहाँ यह भी समझने की बात है कि व्यक्तित्वान्तरण के पश्चात् उस व्यक्ति का विकास होता है अथवा उसके भावी जीवन को अभिव्यक्तिकरण अथवा प्रकटीकरण की प्रक्रिया में देखा–समझा जाना चाहिए। वास्तव में होता तो प्रकटीकरण ही है लेकिन दुनिया अपने नजरीये से उसे विकास समझती है। यदि दुनिया के इस नजरीये को मान भी लिया जाय तो भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि विकास भी उसी बोध–भूमि पर होता है जिस बोध में उस व्यक्ति का व्यक्तित्वान्तरण घटित हुआ रहता है।[13]

व्यक्तित्वान्तरण के पश्चात् उस व्यक्ति में कुछ ऐसी विशिष्टताओं का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है जो साधारण व्यक्तियों में नहीं होती। इन्हीं विशिष्टताओं के कारण वह जिस सत्य में व्यक्तित्वान्तरित हुआ रहता है उसका अपने जीवन में सहज रूप से आत्मक्रियान्वयन करता है। इस सन्दर्भ में यहाँ महात्मा गाँधी की कुछ विशेषताओं का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा जो संयुक्त रूप से उन्हें अद्वितीय बनाती हैं। उनकी पहली विशेषता है – एक आदर्श मानव–जीवन की कल्पना के अनुसार अपने आन्तर और बाह्य जीवन के नियोजन में नितान्त निर्मम दृढ़ता। दूसरी विशेषता है – आदर्श कल्पना के अनुसार आचरण में वैयक्तिक और सामूहिक सन्दर्भों को अलग–अलग नहीं रखना। तीसरी विशेषता है – जटिल और भोगपरक जीवन–पद्धति से एक सहज वितृष्णा। चौथी विशेषता है – विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में भी अपने सत्य और आदर्श पर अखण्ड भरोसा। पाँचवीं विशेषता है – वाक् जिगु होना। अशोक की शिलालेखों में बुद्ध को वाक् जिगु कहा गया है। राम भी वाक् जिगु थे। वह दो बार नहीं बोलते थे (रामो द्विर्नभाषते)। सत्य के निर्भ्रान्त बोध–भूमि पर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

स्थित व्यक्ति ही वाक् जिगु होता है। उसकी भाषा में वाक् संयम और सपाट–सटीक अभिव्यक्ति के गुण सहज ही होते हैं। महात्मा गाँधी के जीवन में इन पाँचों विशेषताओं को पूरे तौर से लागू होते देखा जा सकता है।[14]

IV

महात्मा बुद्ध जैसे महाभिनिष्क्रमण के पश्चात् मार्ग–सत्य की खोज में कुछ समय तक चक्रमण करते रहे वैसे ही मेरित्जबर्ग की घटना से व्यक्तित्वान्तरित हुए गाँधी आधुनिक सभ्यता के हिंस्र स्वरूप की जमीनी वास्तविकता की जाँच–पड़ताल के लिए 1893 से 1909 तक मानो भटकते रहे। उन दिनों ब्रिटेन को ही आधुनिक सभ्यता की राजधानी कही जा सकती है। पूरी दुनिया में आधुनिक सभ्यता के विस्तार की भूमिका में ब्रिटेन का कोई शानी नहीं है। उसके उपनिवेशों का फैलाव इतना अधिक था कि कहा जाता है – ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्यास्त नहीं होता और हिंसा की अग्नि भी कभी शान्त नहीं होती थी। इस दृष्टि से लन्दन का चतुर्मास प्रवास न केवल गाँधी के लिए बल्कि गाँधी को समझने की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। आधुनिक सभ्यता की हिंस्र आत्मा का साक्षात्कार तो उन्हें पहले ही हो चुका था लेकिन लन्दन में वह उसके शरीर को भी देख सके। इस प्रवास के दौरान वह किस–किस से मिले और क्या–क्या देखा समझा, इसके विस्तार में न जाकर यहाँ केवल एक घटना का उल्लेख उन्हें समझने में उपयोगी हो सकता है। उन दिनों लन्दन में रह रहे भारतीय युवकों ने विजयादशमी के पर्व को अपनी तरह से मनाने का निश्चय किया। रामायण पर एक संगोष्ठी के साथ–साथ प्रीतिभोज का भी आयोजन किया गया। करीब सवा सौ भारतीय नवयुवक उस आयोजन में भाग लेने वाले थे। लन्दन में रहते हुए गाँधी भी उनमें से कुछ एक से परिचित हो चुके थे। लिहाजा उन्हें भी आमंत्रित किया गया और संगोष्ठी की अध्यक्षता करने का आग्रह भी किया गया। गाँधी कुछ शर्तों के साथ आमंत्रण स्वीकार किये। शर्त यह कि भोजन निरामिष होगा। विवादास्पद मुद्दों पर कोई चर्चा नहीं होगी। संगोष्ठी में गाँधी के अतिरिक्त फिरोजशाह मेहता, हाजी तबीब, बी. चट्टोपाध्याय और वी.डी. सावरकर समेत पाँच वक्ता थे। सभी वक्ताओं ने अपने–अपने विचार व्यक्त किये। सावरकर ने अपने जोशीले भाषण में रामायण की कथा का आश्रय लेकर 'हिंसा–दर्शन' का समर्थन किया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि शक्ति पूजा के उपरान्त ही राम को रावण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पर विजय प्राप्त हुई थी। अतः भारत की मुक्ति भी शक्ति–उपासना से ही सम्भव है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अहिंसा की साधना श्रेयस्कर नहीं। जब गाँधीजी बोलने के लिए खड़े हुए तो आलोचना–प्रत्यालोचना से ऊपर उठकर उन्होंने रामायण का सार सत्य और अहिंसा की साधना में देखा और राम को सत्य, शील एवं आनृशंस की प्रतिमूर्ति बताया।[15] वास्तव में गाँधी इस आयोजन में सम्मिलित होकर हिंसा के दो धड़ों की पहचान कर लिये थे। एक जो हिंसा की ताकत से गुलाम बनाता है और दूसरा जो उस गुलामी से मुक्ति के लिए भी हिंसा का ही सहारा लेता है। इन दोनों ही प्रवृत्तियों से अन्ततः हिंसा ही प्रतिष्ठित होती है। आजादी के नाम पर हिंसा का समर्थन करने वाले उस समय न केवल भारत में बल्कि पूरी दुनिया में फैले थे। अतः उन्हें अहिंसा के हथियार से हिंसा से लड़ने के लिए तैयार करना गाँधी के लिए एक बड़ी चुनौती थी। सम्भवतः यह गाँधी और सावरकर की अहिंसा और हिंसा के दो छोर के रूप में यह पहली मुलाकात थी।

आधुनिक सभ्यता की राजधानी 'ब्रिटेन' और ब्रिटेन की राजधानी 'लन्दन' में गाँधी का चतुर्मास पूरा हुआ। इसी के साथ मानो मनुष्यता को बिगाड़ने वालीं हिंस्र सभ्यता की पड़ताल पूरी हुई। वह आस्वस्थ थे लेकिन अन्दर से बहुत निराश। 13 नवम्बर 1909 को वह 'किल्डोनन कैसल' जहाज से दक्षिण अफ्रिका लौट रहे थे। राम–रावण युद्ध की पूर्व संध्या भी अमावश की थी।[16] राम अगली सुबह होने वाले भीषण युद्ध के विषय में सोचते हुए समुद्र तट पर चिन्ता मग्न थे। वैसे ही 13 नवम्बर 1909 की तिथि भी अमावश थी। गाँधी चिन्तामग्न मनोदशा में समुद्र के ऊपर से गुजर रहे थे। राम को आसुरी सभ्यता के अधिपति रावण से लड़ना था। गाँधी के समक्ष शैतानी आधुनिक सभ्यता से लड़ने की चुनौती थी। विचारमग्न गाँधी उच्छवास भरते हुए जहाज के डेक के भीतर दौड़ पड़े। मानो चेतना में घनिभूत विचार वाग्–विग्रहित होने के लिए व्याकुल हो उठे। अन्दर पड़े मेज–कुर्सी को जैसे–तैसे सहेजा। आसपास पड़े स्टेशनरी पर अपने विचारों को कलमबद्ध करना शुरू कर दिया। विचारों की तीव्रता इतनी अधिक कि उन्हें कलमबद्ध करते हुए जब दायाँ हाथ थक गया तो बायें हाथ से ही सही, लेकिन लिखने का प्रवाह जारी रहा। कृष्णपक्ष की अमावश्या को आरम्भ हुआ यह लेखन शुक्लपक्ष की नवमी को सम्पन्न हुआ। स्टेशनरी के कुल दो सौ पचहत्तर पृष्ठों की पाण्डुलिपि तैयार हुई। इसमें चालीस पृष्ठ बायें हाथ से लिखा गया था। इसी कृति को दुनिया 'हिन्द स्वराज' के नाम से जानती

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है। जैसा कि इसके शीर्षक से विदित होता है, यह भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का घोषणापत्र था। यदि वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में इसे मानव मात्र की स्वतंत्रता का घोषणापत्र कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। महात्मा गाँधी आजीवन इस विश्वास से विचलित नहीं हुए कि इस घोषणापत्र में निर्दिष्ट पथ पर चलकर प्राप्त की गई भारत की स्वतंत्रता सच्ची स्वतंत्रता होगी और मानव मात्र को आधुनिक सभ्यता के मोहपाश से मुक्ति दिलाने का सौपान बन सकेगी। अपने सक्रिय और वैचारिक जीवन में उन्होंने जो कुछ भी सोचा–विचारा वह सब इसी घोषणापत्र का भाष्य है और उनके सम्पूर्ण राजनीतिक जीवन की सक्रियता इसी घोषणापत्र का आत्मक्रियान्वयन है। इसके बावजूद भी गाँधी का सम्पूर्ण वाङ्मय और उनका सम्पूर्ण जीवन हिन्द स्वराज का सम्पूर्ण भाष्य नहीं कहा जा सकता। एक ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में 'हिन्द स्वराज' मानों एक अधुरी परियोजना है और मानव जाति सदैव उससे प्रेरणा ग्रहण करती रहेगी।

V

महात्मा गाँधी ने हिन्द स्वराज में मनुष्य को ही नहीं बल्कि मनुष्यता को बिगाड़ने वाली आधुनिक सभ्यता की सख्त टीका की है। इस सख्त टीका की मौलिकता इस बात में निहित है कि आधुनिक सभ्यता की हिन्दस्वराजी आलोचना उसकी आत्मा की पकड़कर की गई समालोचना है। महात्मा गाँधी से पहले पहले और बाद में बहुतेरे पश्चिमी विचारकों ने भी आधुनिक सभ्यता की आलोचनाएँ की हैं, लेकिन वह सभी उसके देह की आलोचना है। देह–सन्दर्भी आलोचनाएँ देही को खारिज किये बगैर देह में आक्षिप्त विकारों के प्रक्षालन का प्रस्ताव भर होती हैं। लेकिन आत्मा–सन्दर्भी आलोचना देही को ही सिरे से खारिज करती है। यही कारण है कि आधुनिक सभ्यता का देह जैसे–जैसे विस्तारित हो रहा है वैसे–वैसे आधुनिकता की हिन्दस्वराजी आलोचना के अन्तरार्थ दुनिया के सामने खुलते जा रहे हैं। ऐसा भी नहीं कि स्वयं आधुनिकता अपने साभ्यतिक विन्यास में अन्दर से उठ रहे हरमेन्युटिकल क्वेश्चन्स के प्रति आत्मचेतन नहीं है? उसे अपने अन्तर्निहित विकारों की आत्मचेतना है। परन्तु उसकी पद्धति ही ऐसी है कि वह अस्तित्वात्मक समस्याओं का सदैव अनुभवमूलक समाधान ही खोजती है। वह भी ऐसा समाधान जो अपने आप में किसी समस्या का एक प्रतिविधान हुआ करती है। महात्मा गाँधी का हिन्दस्वराज आधुनिक सभ्यता के दोषों का समाधान नहीं बल्कि एक वैकल्पिक सभ्यता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बोध के द्वारा उसका निदान प्रस्तुत करता है। अपने इस वैकल्पिक सभ्यता बोध की रूपरेखा उन्होंने ग्राम स्वराज के रूप में प्रस्तुत की है। यह ग्राम स्वराज कोई बैलगाड़ी के युग में लौटना नहीं है और न ही यह कोई गवारों की गँवई जीवनशैली है जिसे पिछड़ेपन का पर्याय माना जाता है। वास्तव में यह आत्मपूरित ग्राम स्वराज है। ग्राम स्वराज में आत्मपूरित (सेल्फ कन्टेंड) विशेषण लगाकर एक ओर उन्होंने देहवासना की सम्पूर्ति में निरत आधुनिक ऐन्द्रिक सभ्यता की जीवन दृष्टि का विलोम प्रदर्शित किया है तो दूसरी ओर उसके अनुलोम अर्थ में सनातन भारत के जीवन–दर्शन को एक वैकल्पिक सभ्यता बोध के रूप में प्रस्तावित किया है।[17] अतएव यह कहना उचित होगा कि महात्मा गाँधी के हिन्द स्वराज का मन–मस्तिष्क आधुनिक सभ्यता के हिंस्र स्वरूप की मूलगामी आलोचना है, जबकि उसका हृदय अहिंसक सत्यान्वेषी भारत का आत्मप्रकाशित धर्म–बोध है। वास्तव में मन–मस्तिष्क और हृदय की इसी युति का सन्धारक महात्मा "सनातन गाँधी" है।

दर्शनशास्त्र विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *द्रष्टव्य, स्पालडिंग प्रोफेसर ऑफ इस्टर्न रेलिजन एण्ड एथिक्स एवं विश्व प्रसिद्ध धर्म वैज्ञानिक रॉबर्ट चार्ल्स जेनर की पुस्तक हिन्दुइज्म का 8वां अध्याय 'युधिष्ठर रिटर्नस', ऑक्सफोर्ट युनिवर्सिटी प्रेस, 1962, 1966*
2. *जोसेफ लेलीवेल्ड, ग्रेट सोल : महात्मा गाँधी एण्ड स्ट्रगल विद इण्डिया, नई दिल्ली : हार्पर कालिन्स, 2011, पृ. 22*
3. *जवाहरलाल नेहरू, राष्ट्रपिता, सस्ता साहित्य मण्डल, प्रकाशन, नई दिल्ली, 8 वां संस्करण, 2013, पृ0 107*
4. *सुधीर चन्द्र, गाँधी एक असम्भव सम्भावना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति 2014।*
5. *22 जुलाई 1944 को गोडसे ने ऐसा प्रयास किया था लेकिन भीड़ में ही पकड़ लिये जाने के कारण वह अपनी योजना में सफल नहीं हो पाया था।*
6. *इसका जिक्र रोम्यां रोला की डायरी (17.01.1924) में है। देखें, रोम्यां रोला एण्ड गाँधी : कोरेस्पोंडेंस, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, दिल्ली, पृ0 20, 1976।*
7. *इस घटना का उल्लेख नारायण देसाई अपनी 'बापू कथा' में बड़े ही मार्मिक ढंग से करते थे।*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

8. इस बात के मर्म को इस उदाहरण के द्वारा अच्छी तरह से समझा जा सकता है। सिद्धार्थ गौतम भी अपनी पत्नि और बच्चे को छोड़ गृहत्याग किये थे और पॉल गॉगिन भी ऐसा ही किया था। परन्तु दोनों एक ही प्रकार के कर्म चेतना की दो भूमियों पर स्थिर होकर किये थे। इसीलिए गौतम का मूल्याँकन दुनिया बुद्ध के रूप में करती है, जबकि गॉगिन का मूल्याँकन वैसा नहीं किया गया।
9. द्रष्टव्य, रोम्यां रोला एण्ड गाँधी : कोरेस्पोंडेंस, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1976, पृ0 20
10. आचार्य शंकर की लघु कृति 'मनीषा पंचक' इसी वृतान्त पर निबद्ध रचना है।
11. कृष्ण कृपलानी, गाँधी : एक जीवनी, हिन्दी अनुवाद, नरेश 'नदीम,' नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, सम्पूर्ण संस्करण 1997, पृ0 19।
12. रामचरितमानस, बालकांड, 183/3, गिरि सरि सिंधु भार नहीं मोही। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही।
13. गाँधी ने अपने कुछ वक्तव्यों में अपने विकास की बात की है जैसे वे कहते हैं कि (हरिजन बंधु, 30.04.1993) "उमर से मैं भेले बुढ़ा हो गया हूँ, लेकिन मुझे ऐसा नहीं लगता कि मेरा आन्तरिक विकास होना बंद हो गया है या देह छूटने के बाद मेरा विकास बंद हो जायेगा। मुझे एक ही बात की चिन्ता है, और वह है प्रतिक्षण सत्य–नारायण की वाणी का अनुसरण करने की मेरी तत्परता"। इस वक्तव्य का गूढ़ार्थ आन्तरिक विकास, देह छूटने के बाद भी विकास और सत्य–नारायण की वाणी को सुनने की तत्परता है। इन तीनों बातों से विकास का अन्तरार्थ एक विशेष बोध भुमि पर विकसित होना है। इस प्रकार की विकसन प्रक्रिया में पूर्व–पूर्व की अपेक्षा उत्तर–उत्तर की प्रामाणिकता अधिक होती है (मुनीनां उत्तरोत्तर प्रमाण्यम्)। इसी लिए गाँधी ऐसा भी कहते हैं कि किसी पाठक को मेरे दो लेखों में विरोध जैसा लगे, तब अगर उसे मेरी समझदारी में विश्वास है तो वह एक ही विषय पर लिखे हुए दो लेखों में मेरे बाद के लेख को प्रमाणभूत माने।
14. महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व की इन विशिष्टताओं में से कुछ का उल्लेख यशदेव शल्य नें भी किया है। द्रष्टव्य, समसामायिक चिन्ताएँ, पृ. 3, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004।
15. इस संगोष्ठी का उल्लेख और विश्लेषण मनोज कुमार राय ने अपनी पुस्तक "हिन्दस्वराज : अमित अरथ आखर अति थोरे" में सुन्दर तरीके से प्रस्तुत किया है, पृ0 45–46, लोकायत प्रकाशन, वाराणसी 2015
16. राम–रावण युद्ध की पूर्व संध्या अमावश की थी, इसका संकेत महाकवि निराला की 'राम की शक्ति पूजा' नामक कविता के इस अंश से विदित होता है –

   है अमानिशा, उगलता गगन घन अन्धकार;
   खो रहा दिशा का ज्ञान; स्तब्ध है पवन चार
   अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल
   भुधर ज्यों ध्यान–मग्न; केवल जलती मशाल।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

17. यह कोई संयोग नहीं कि आधुनिक सभ्यता के विकल्प में वह सभ्यता बोध जो महात्मा गाँधी के चिन्तन में उन्मीलित हुआ था, उसके बहुतेरे आधारभूत सूत्र वाल्मीकि रामायण में अक्षरशः प्राप्त होते हैं। इस पृष्ठभूमि में गाँधी को समझना वास्तव में सनातन गाँधी को परखना है। साधारणतः ऐसा समझा जाता है कि 'सत्य ही ईश्वर है' महात्मा गाँधी के चिन्तन का मौलिक आधार वाक्य है। परन्तु द्वितीय धर्मराज (सत्ये धर्म इवापरः) राम का आदर्श भी यही है कि इस लोक में सत्य ही ईश्वर है (सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्म सदाश्रितः, रामायण, अयोध्या कांड, 109/13)। पुनः साध्य–साधना की पवित्रता का सिद्धान्त महात्मा गाँधी के चिन्तन का दूसरा मौलिक सूत्र है। परन्तु साध्य–साधन–विवेक के सम्यक् प्रयोक्ता राम ही रहे हैं। सत्य साध्य की सिद्धि सत्य साधनों से ही करने में उनकी दृढ़ निष्ठा रही है। यह सत्यप्रतिश्रव राम की अटल प्रतिज्ञा है (सत्य प्रतिश्रवः सत्यं सत्येन समयीकृतम्, रामायण अयोध्या कांड, 109/16)। यह भी माना जाता है कि राजनीति में सत्य और अहिंसा का सफल प्रयोग करने की दृष्टि दुनिया भर में महात्मा गाँधी की मौलिक सूझ रही है। परन्तु आश्चर्य है कि राम की राजनीति भी सत्य और अहिंसा की संधारक राजनीति रही है। उनकी घोषणा है कि सत्य और आनृशंस ही सनातन राजवृत्त है, इसलिए राज्य को भी सत्यात्मक होना चाहिए (सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्। तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोक प्रतिष्ठितः।।, रामायण, अयोध्या कांड, 109/10)। इसी तरह महात्मा गाँधी के चिन्तन के अन्यात्य सूत्रों को महाभारत और गीता में भी खोजे जा सकते हैं। वस्तुतः रामायण और महाभारत ही दो ऐसे महाकाव्य हैं जो भारत के सनातन जीवन–दर्शन को सम्पूर्णता में प्रस्तुत करते हैं। अतः सनातन गाँधी को रामायण के सत्य और महाभारत के धर्म से वियुक्त कर भला समझा भी कैसे जा सकता है ?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सर्वात्मवादी राष्ट्रवाद की अन्तर्यात्रा : टैगोर, अरविन्द और गाँधी

विश्वनाथ मिश्र

भारतीय ऋषि परम्परा और वेदान्त दर्शन के आधार पर जिस तरह का राष्ट्रवाद विकसित हो सकता है वह टैगोर, अरविन्द और गाँधी के चिन्तन में ही परिलक्षित होता है। वेदान्त दर्शन के प्रतिपाद्य 'तत्त्वमसि' और 'सर्वखल्विदं ब्रह्म' का राष्ट्रवाद में रूपान्तरण नृजातीय, सिविक, सांस्कृतिक, धार्मिक या प्रजातीय राष्ट्रवाद में नहीं होता है। यह जो पाँच प्रकार के राष्ट्रवाद गिनाये गये हैं वह एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र या एक मानव समुदाय को दूसरे मानव समुदाय के विरूद्ध खड़ा कर देते हैं। वेदान्त दर्शन मानव जाति की एकता और उससे भी आगे चराचर की एकता में अखंड विश्वास करता है। ऐसे में यह एक विरोधाभासी प्राक्कल्पना की तरह लगता है कि वेदान्त आधारित भी कोई राष्ट्रवाद हो सकता है? विशेषकर उस स्थिति में जब राष्ट्र–राज्य भौगोलिक अभेद्यता के सिद्धान्त वाले राज्य के साथ समाहित कर लिया गया हो। तत्त्वमसि और सर्वखल्विदं ब्रह्म सर्वात्मवादी राष्ट्रवाद की प्रस्तावना है जो मानवतावाद के साथ अन्योन्याश्रित संबंध बनाता है। इसमें धर्म, संस्कृति, राज्य, उद्योग और परम्परा तथा आधुनिकता भी जहाँ मानवता के मार्ग में बाधक बन जाते हैं वहाँ उनके अतिक्रमण की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति होती है। यह सर्जनात्मक अभिव्यक्ति राष्ट्रवाद की बनी–बनायी धाराओं को भी ध्वस्त कर देती है। इसी कारण टैगोर, अरविंद और गाँधी को राष्ट्रवाद के विचारकों की श्रेणी में रखने के बजाय मानवतावादी, अन्तर्राष्ट्रवादी या फिर कास्मोपोलिटन विचारकों की श्रेणी में रखा जाता है। परन्तु, ऐसा करना पश्चिमी राष्ट्रवाद के पराभूत सिद्धान्तों से टैगोर, अरविंद और गाँधी का मूल्याँकन करना है।[1] वेदान्त के सर्वात्मवादी राष्ट्रवादी विचार–सरणी में मानवतावाद आनुषंगिक (सबसिडियरी) विचार नहीं है अपितु सम्पोष्य घटक है।

उन्मीलन – वर्ष 34, अंक 2, जुलाई–दिसम्बर 2020
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

टैगोर, अरविंद और गाँधी के राष्ट्रवाद का संवाहक व्यक्ति, संस्कृति, धर्म और सभ्यता का दास नहीं है। वह शूद्र होने से अकिंचन् और ब्राह्मण होने से श्रेष्ठ नहीं बन जाता है; बल्कि वह श्रेष्ठ बनता है अकिंचनता के सारे बंधनों को तोड़ देने की क्षमता के कारण। मानवीय क्षमता पर टैगोर, अरविंद और गाँधी का अगाध विश्वास जान लॉक और कांट से भी अधिक है।[2] यह मानवीय क्षमता में विश्वास का ही परिणाम है जो टैगोर को प्रकृतिवादी, अरविंद को रहस्यवादी और गाँधी को अहिंसावादी बनाती है। पश्चिमी विचारकों ने मानव की क्षमता पर विश्वास करते हुए मनुष्य को गरिमा का पात्र भी बनाया है, क्योंकि वह स्वतंत्र कर्तृत्व की क्षमता रखता है और अपने कर्तृत्व के प्रति वह उत्तरदायी भी है। परन्तु पश्चिमी विचारक जिस आधुनिकता, उद्योगवाद ओर राष्ट्रवाद के माध्यम से मनुष्य को कर्तृत्व की क्षमता प्रदान करने की व्यवस्था बनाते हैं वह मनुष्य की कर्तृत्व क्षमता को हतोत्साहित कर देता है। इसे वे प्रायः एक शताब्दी बाद बहुत अच्छी तरह से समझने भी लगे हैं, परन्तु टैगोर, अरविंद और गाँधी इसको बहुत पहले समझ ही नहीं गये थे बल्कि उदीयमान भारत को निरन्तर इसके प्रति सचेत भी कर रहे थे।

स्वतन्त्रता आंदोलन के समय भारत में जितने भी विचारक हुए और जो किसी न किसी प्रकार से स्वतंत्रता आंदोलन में भाग ले रहे थे, उनके चिन्तन में राष्ट्रवाद और राष्ट्रप्रेम एक ही हो गया है। टैगोर, अरविंद और गाँधी इस मायने में दूसरे समकालीनों से भिन्न हैं कि इनके चिन्तन में राष्ट्रवाद और राष्ट्रप्रेम के साथ–साथ विश्वबन्धुत्व, दिव्य चेतना और मानव प्रेम अंगीभूत हो गये हैं। इस तथ्य को एक रूपक के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है। राष्ट्रवाद अपनी मिट्टी, अपने लोग, अपने इतिहास और अपनी संस्कृति के प्रति लगाव और उस लगाव से गौरवान्वित होना है। परन्तु जिसे हम अपनी मिट्टी और अपनी धरती कहते हैं वह सम्पूर्ण पृथ्वी का एक छोटा सा ही अंश है। सम्पूर्ण सृष्टि के संदर्भ में देखें तो हमारी अपनी मिट्टी तो सम्पूर्ण सृष्टि में और भी छोटी सी घटक है। इसी तरह अपने लोग, अपनी संस्कृति और अपना इतिहास भी सम्पूर्ण मानवीय सभ्यता के संदर्भ में एक अत्यन्त लघु इकाई ही है। फिर इस लघु इकाई को पूर्णता में विकसित कैसे किया जायेगा? क्या इसके लिए धरती के हर कोने को अभेद्य सुरक्षा दीवारों से बाँट दिया जाना उचित होगा या लोगों के हृदय और मस्तिष्क को, बुद्धि और बोध को लौहआवरण के पहरेदारी में रखना उचित होगा? या हम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सबको अपनी संकुचित देह वृत्तियों से ऊपर उठना होगा? अपने मानसिक विन्यास को चेतना की नई ऊँचाइयों तक ले जाना होगा और शोषण, अन्याय तथा विभेद की भौतिक तथा धार्मिक अवस्थाओं को बदलते हुए राष्ट्र रूपी अणुओं को उस महत् की विराट चेतना की ओर ले जाना होगा जो सामान्य होकर भी विशिष्ट में अभिव्यक्त हुआ है। यहाँ जो दो विकल्प प्रस्तुत किये गये हैं उनमें पहला विकल्प आज की सभ्यता का विकल्प है और दूसरा विकल्प टैगोर, अरविंद और गाँधी का विकल्प है।

दुनिया के इतिहास में कोई भी राष्ट्र मात्र सैनिकों और शासकों के उस वीरभाव से नहीं बनता है जिसके प्रतीक सावरकर और पाम्पिलियस हैं।[3] राष्ट्र मात्र आध्यात्मिक निष्ठा से भी नहीं बनते हैं। राष्ट्र मात्र उद्योग, अर्थव्यवस्था और राजनीतिक शक्ति की अंतःक्रिया के फल भी नहीं होते हैं और राष्ट्र काव्यरचना के भी प्रतिफल नहीं होते हैं। राष्ट्र अभिजन और सामान्य जनता के झुण्ड भी नहीं होते हैं। अपितु राष्ट्र इन सबसे मिलकर पशुता से ऊपर उठकर मानव बनने की प्रक्रिया में बनते हैं। यदि मानवता को अभी और विकसित होना है तब राष्ट्र को उसका अधिष्ठान भी बनना होगा। राष्ट्र को मानवता का अधिष्ठान न बनने देने में जो तत्त्व आज बाधक हैं वही तत्त्व मानवता के विकास की सीढ़ियाँ भी रह चुका है।[4] यह सत्य टैगोर, अरविंद और गाँधी के राष्ट्रवाद में अभिव्यक्त होता है।

रविन्द्रनाथ टैगोर

रविन्द्रनाथ टैगोर के समय का बंगाल ब्रह्मसमाज के आंदोलनों, अँग्रेजी एवं आधुनिक शिक्षा के पैरोकारों, अँग्रेज साहबों की नजदीकी से गौरवान्वित होने वाले शहरियों तथा दो सौ साल पहले की आधुनिकता के प्रभाव से आँख मिचमिचाता हुआ बंगाल था। ऐसे बंगाल को अँग्रेजों की श्रेष्ठता का दम्भ भी दिखाई पड़ने लगा था और नए वातावरण में अतीत को भूलने से उत्पन्न भटकाव भी चिंतित करने लगा था। उसी बंगाल में अपने को सनातनी कहने वाले परन्तु अस्पृश्यता का समर्थन करके गौरवान्वित होने वाले लोग भी थे। फिर भी एकेश्वरवाद की ओर सभी के सभी किसी न किसी रूप में झुके हुए थे; चाहे वे क्रिश्चियन हों, ब्रह्मसमाजी हों या सनातनी हों। वेदान्त का ईश्वर, इसाई एकेश्वरवाद से मेल नहीं खाता था। न ही अँग्रेजी हुकूमत से सीधे–सीधे टकराने की चेतना आम जनमानस की चेतना बन पायी थी। परन्तु जो चेतना बन रही थी उसे बिखरने से बचाना भी जरूरी था और उसे प्रतिक्रियात्मक रूप से अभिव्यक्त होने से सुरक्षित रखना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भी आवश्यक था। टैगोर इन्हीं परिस्थितियों में भारतीय राष्ट्रवाद पर विचार करते हुए उसे प्रकृति की समरसता, प्रकृति की नूतनता और प्रकृति सी पुरातनता में खोजते हैं जो निरन्तरता में भी अद्यतन है। इस दृष्टि से रविन्द्रनाथ टैगोर का राष्ट्रवाद रैनन के द्वारा अभिव्यक्त 'परपेक्चुवल प्लेबीसाइट इन लिविंग टुगेदर' की तरह ही है।[5] क्या कैटलिन की यह अभिव्यक्ति टैगोर के राष्ट्रवाद को प्रकट करने के लिए पर्याप्त है? सम्भवतः नहीं, क्योंकि टैगोर का टुगेदरनेस व्यक्ति को राष्ट्र—राज्य में पुर्जे की तरह फिट करने के लिए नहीं है। यह टुगेदरनेस शासकों के आज्ञा पालन की मानसिकता मात्र उत्पन्न करने के लिए नहीं है। यह टुगेदरनेस उत्पादन का एक उपकरण बनने के लिए भी नहीं है। किसी भी प्रकार का राजनीतिक टुगेदरनेस मनुष्य को किसी न किसी प्रकार से और किसी न किसी प्रकार का यंत्र बना ही देता है। इसी कारण रविन्दनाथ टैगोर का टुगेदरनेस अराजनीतिक क्षेत्रों से होकर गुजरता है। वह शिक्षा, कला, संगीत, काव्य, नाटक के क्षेत्र का टुगेदरनेस है, और अन्ततः इससे राजनीति को प्रभावित किया जाना है। टैगोर के इस राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति गुरूदेव की निम्नलिखित पक्तियों में होती है।

जहाँ मन भय से मुक्त हो और मस्तक सम्मान से उठा हो।
जहाँ ज्ञान स्वतंत्र हो। जहाँ संसार संकीर्ण घरेलू दीवारों से दुश्चक्रों में ना तोड़ा गया हो।
जहाँ विचार सच्चाई की गहराई से उपजें हों।
जहाँ अथक प्रयास अपनी बाहें पूर्णता की ओर बढ़ाते हों।।
जहाँ विवेक की निर्मल धारा अंध विश्वासों के मरूस्थल की नकारात्मक रेत में ना खो गयी हो।
जहाँ मन आपसे प्रेरित होकर निरन्तर प्रगतिशील विचारों और कर्मठता की ओर बढ़ता हो।
उस स्वतंत्रता के स्वर्ग में, हे परमपिता! मेरे देश को जागृत कर दे।[6]

टैगोर के राष्ट्रवाद में भारतवर्ष नाम की एक वृहद् प्राचीन सत्ता है। यह सत्ता छिपी रहकर भी अधिकारपूर्वक सुदूर अतीत से लेकर सुदूर भविष्य तक मानव जाति के विराट भाग्य जाल में एक विशेष रंग का सूत्र, एक विशेष ढंग से बुनती रही है। यह सूत्र कितना सूक्ष्म और विचित्र है और कितनी दूर तक उसका कितना गहरा प्रभाव है उसे सचेतन रूप से अनुभव न करने से हम लोग कितने छोटे हो जाते हैं और अपने चारों ओर के संबंध

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

में बेखबर होकर काम करते हैं। देश से जो परे है, देश से जो बड़ा है वह देश के भीतर से ही प्रकाशित होता है। ईश्वर ऐसे ही विचित्र भाव से अपने अनन्त स्वरूप को प्रकाशित करता है। जो कहते हैं कि सत्य एक है, इसलिए केवल एक ही धर्म सत्य हो सकता है या धर्म का एक ही रूप हो सकता है, वे इस सत्य को तो मानते हैं कि सत्य एक है, लेकिन इस सत्य को नहीं मानना चाहते कि सत्य अन्तहीन होता है। वह अन्तहीन एक है। वह अन्तहीन अनेक में अपने को प्रकाशित करता है। उसी की लीला हम सारे जगत में देखते हैं। इसीलिए धर्म मत भी विचित्र रूप लेकर कई दिशाओं से उसी धर्मराज की उपलब्धि कराते हैं। मैं निश्चयपूर्वक आपसे कहता हूँ—भारत वर्ष की खुली खिड़की से आप सूर्य को देख सकते हैं। इसके लिए सागरपार जाकर गिरिजाघर की खिड़की में बैठने की कोई जरूरत नहीं है।[7]

टैगोर के लिए भारतवर्ष भूमि का टुकड़ा भर भी नहीं है और भारतीयता का स्वत्व कोई सैन्य भाव वाले वीरगाथा में नहीं है। वास्तव में निर्विशेष के विशेष में प्रकट हो जाने और उन अनन्त विशेषों का अनन्त प्रकार से अतिक्रमण करती रहने वाली सत्ता की अनुभूति ही भारतीयता का स्वत्व है। भारतवर्ष धर्म के स्थूल और सूक्ष्म अन्तर तथा शरीर तथा आत्मा इन दोनों को स्वीकार करना चाहता है। जो लोग सूक्ष्म को धारण नहीं कर सकते वे स्थूल को धारण करते हैं और अज्ञान से उस सूक्ष्म के विचार में अनेक अद्भूत विकार उत्पन्न करते रहते हैं। लेकिन जो रूप में भी सत्य है, अरूप में भी सत्य है और जो सूक्ष्म तथा स्थूल में भी सत्य है उसे देह, मन और कर्म में उपलब्ध करने का आश्चर्यमय प्रयत्न विशाल भारतवर्ष कर रहा है। इस तरह के सत्य की अवज्ञा करके यूरोप ने नास्तिकता तथा आस्तिकता मिश्रित, संकीर्ण और नीरस जिस धर्म को अपना लिया है उसे भारतवर्ष में स्वीकार करके सत्य, प्रकृति और सत्य–साधना के प्रति कभी श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो सकती हैं।[8] सावरकर और अम्बेडकर की तरह टैगोर भारत की बुराईयों से उसके भविष्य को लेकर सशंकित नहीं हैं। न ही वे भारतवर्ष की निंदा करते हैं। पराजय के काल हों या क्षरण के चरण हों, टैगोर जिस भारत की बात करते हैं वह सभ्यता के कालचक्र में क्षण मात्र हैं। वह सम्पूर्ण नहीं है। इस तथ्य को सुचरिता से संवाद में गोरा कहता है कि भारतवर्ष की अनेक प्रकार की झलक और विचित्र चेष्टाओं के बीच में गहरा और एक वृहद् ऐक्य मैं देख सका हूँ। उसी ऐक्य के आनन्द से मैं पागल हूँ। उसी ऐक्य के आनन्द से सराबोर भारतवर्ष में जो सबसे मूढ़ हैं उनके साथ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हिल–मिलकर धूल में बैठने में मुझे जरा भी संकोच नहीं है। मैं अपने भारतवर्ष के सब लोगों के साथ एक हूँ। वे सभी मेरे अपने हैं। उन सबके बीच चिरन्तन भारतवर्ष का गूढ़ आविर्भाव निरन्तर अपना कार्य कर रहा है।[10]"

यदि आधुनिक राष्ट्र–राज्य का एक महत्त्वपूर्ण आधार लोकप्रिय संप्रभुता है और उसका अधिष्ठान जनगण है तब सावरकर एवं अम्बेडकर के चिंतन की अपेक्षा वह जनगण टैगोर के चिन्तन में पूरी प्रतिष्ठा और गरिमा के साथ उपस्थित हुआ है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि जिस सावरकर ने सिन्धु से सिन्धु पर्यन्त भारतवर्ष को एक राष्ट्र के रूप में परिभाषित किया और जहाँ इस भूमि को मातृभूमि, पितृभूमि और पुण्यभूमि मानने वाले लोग रहते हैं; उन्होंने अपनी पुस्तक हिन्दुत्व में टैगोर का उल्लेख तक नहीं किया। जबकि टैगोर उनसे डेढ़ दशक पूर्व ही पंजाब, सिंध से उच्छल जलधि तरंगा तक उसी भूगोल की बात करते हैं, जिसकी सावरकर ने की है। इतना ही नहीं, टैगोर ने तो राष्ट्रगान में यहाँ की सभी जातियों और प्रदेशों तक का वर्णन किया है।[11] सावरकर ने अपने हिन्दुत्व में जनगण की अपेक्षा उनके नायकों पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया है और जनगण को पृष्ठभूमि में ढकेल दिया है और अम्बेडकर ने तो जनगण को विभाजित कर दिया है। यह जनगण की क्षमता के प्रति उदासीनता है और ऐसी उदासीनता जो अपने प्रति विश्वास को ही खो दे, सबसे बड़ी पराधीनता है। परन्तु इस पराधीनता को समझने वाले शिक्षित लोगों के द्वारा जब अपनी आत्मछवि खोजने के प्रयासों में जब अपने में विश्वास नहीं जगाता है तब यह मुँह छिपाने के लिए इतराने जैसा ही होता है।[12] जापान के राष्ट्रवाद पर 1916 के जापान में दिये गये अपने भाषण में टैगोर जापान को सचेत करते हैं कि पश्चिम की प्रतिकृति को अपनी आत्मछवि मानने और सरवाइवल ऑफ द फिटेस्ट के वैज्ञानिक मंतव्य को स्वीकार कर लेने तथा वर्तमान को ही अतीत के वृहद् रूप में देखने से स्वयं अपनी सहायता करने का बोध नष्ट हो जाता है। यहाँ राष्ट्रवाद (मोटो शब्द का रूपान्तरण) अंधे आदमी की अनुभव की तरह हो जाता है जो अपनों को छू तो सकता है परन्तु अपनों को देख नहीं सकता है कि वे भी उसी की तरह है।[13] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पश्चिम का राष्ट्रवाद भी ऐसे ही अंधे आदमी के राष्ट्रवाद का उदाहरण प्रस्तुत करता है, क्योंकि पश्चिम ने अतीत से अपना संबंध काट लिया है और आधुनिकाता तथा वर्तमान के आलोक में ही अपने आप को परिभाषित किया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पश्चिम के राष्ट्रवाद को परिभाषित करते हुए टैगोर ने तीन महत्त्वपूर्ण तथ्यों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। प्रथम, राष्ट्र लोगों के राजनीतिक एवं आर्थिक संघ की एक यांत्रिक साझेदारी (सेंस) है। द्वितीय, इसके विपरीत समाज का संगठन राष्ट्र जैसा कोई अप्रत्यक्ष उद्देश्य नहीं रखता है बल्कि यह स्वयं में ही साध्य है।[14] तृतीय, समाज मनुष्य की सामाजिक प्राणी के रूप में मानवीय संबंधों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति की प्राकृतिक व्यवस्था है। इसका एक राजनीतिक पक्ष भी होता है किन्तु यह मात्र एक पक्ष है जिसका उद्देश्य अपना परिरक्षण है। स्वयं इसका अपना कोई मानवीय आदर्श नहीं है। किन्तु जब इस राजनीतिक पक्ष ने विज्ञान, विशेषज्ञता और समृद्धि का सहारा पाया तब यह पक्ष आश्चर्यजनक रूप से विकसित हुआ। राजनीतिक पक्ष के इस विकास ने पड़ोसी समुदायों के प्रति ईर्ष्या और भय को इस तरह बढ़ा दिया कि स्वार्थ से प्रेरित वर्चस्व स्थापित करने की भूमिका में इसने शासन की शक्ति अर्जित कर लिया। फलतः समाज के आत्मनियन्त्रण की शक्ति को भी इसने अपने आधिपत्य में ले लिया। इसने सह–संबंधों की स्वाभाविक नियन्त्रणकारी प्रवृत्तियों को तोड़ दिया और नियन्त्रण की यान्त्रिक व्यवस्था स्थापित कर ली।[15]

समाज के एक अंग के रूप में कार्य करने वाली राजनीति का समाज के सभी अंगों पर छा जाना एक ऐसी प्रतिस्पर्धा को जन्म देता है, जिसमें सबसे पहले स्त्री की पराधीनता बढ़ी। क्योंकि, इस नई प्रकार की राजनीति में पुरूष प्रोफेसनल था, वह आय अर्जित करने वाला होने के कारण शक्ति का प्रतीक बन गया था। इस बदलाव में स्त्री और पुरूष अपने होने के अर्थ–संदर्भ को खो चुके थे। अब वे ऐसी अवस्था में थे जैसे गैसीय द्रव्य को किसी बहुत ही सकरी नली से, दबाव में होकर, निकलना हो और जिसमें दोनों (स्त्री–पुरूष) अपने संबंध को तब तक बनाये रख सकते हैं जब तक कि यह पाइप फट न जाय।[16] इसी को एक बड़े संदर्भ में देखा जाय तो आज वह राष्ट्र जो राजनीतिक एवं आर्थिक साझेदारी का यान्त्रिक स्वरूप है वह राजनीति की प्रयोगशाला में व्यक्तिगत मानवता का क्षय कर देता है। राजनीति और व्यापार, जिसका दूसरा नाम राष्ट्र है, जिस दिन मानवता के सामंजस्य से अधिक शक्तिशाली हो जायेगा वह मानवता के लिए सबसे अशुभ दिन होगा।[17]

यहाँ टैगोर का चिन्तन सहसा यह शंका उत्पन्न करता है कि जिस ग्रीक राजनीति को अरस्तू मानवीय क्रियाओं का सबसे उत्कृष्ट स्वरूप बताते हैं और हन्ना आरेन्ट जिसमें सर्वाधिकारवाद और हिंसा का ध्वंस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

देखती हैं,[18] क्या वही राजनीति राष्ट्र जैसे किसी प्राधिकारवादी संस्था का निर्माण करती है, जो अन्ततः मानवीय साहचर्य, आत्मनियंत्रण और सहजबोध एवं सर्जनात्मकता का विनाश कर देती है? या यह कोई ऐसी राजनीति है जो अरस्तू और हन्ना आरेंन्ट की राजनीति से भिन्न है। इस प्रश्न का उत्तर हमें ऑकशाट के चिन्तन में मिल पाता है, जब वे कहते हैं कि चिन्तन को किसी मोड से संचालित नहीं होना चाहिए और राजनीति को नौवहन की क्रिया की तरह होना चाहिए। जिसमें किसी को शत्रु और किसी को मित्र बनाना इसका उद्देश्य नहीं होना चाहिये, बल्कि हर अवस्था में अनन्त सागर के अपरिचित तटों पर मित्र बनाना ही उद्देश्य होना चाहिए।[19] राजनीति के जिस स्वरूप को मानवीय रचनात्मकता का विनाशक माना जाता है उसमें मात्र सर्वाधिकारवादी चिन्तन ही नहीं आता है। अपितु, इसमें उदारवाद भी बड़े ही शातिर तरीके से शामिल हो जाता है और हम सीधे–सीधे उसे पहचान भी नहीं पाते हैं। टैगोर इस तथ्य को पहचान लिए थे। मैक्फर्सन भी पजेसिजव इंडिविजुवलिज्म (स्वत्वमूलक व्यक्तिवाद) को और उस पर आधारित राजनीतिक–आर्थिकी को मानवीय साहचर्य का विनाशक मानते हैं।[20] परन्तु ऑकशाट की जो बात टैगोर के खिलाफ जाती है वह है पोएट्री को स्वयं एक मोड की तरह काम करने की भूमिका को स्वीकार कर लेना। इस पक्ष को स्पष्ट करने के लिए कुछ तथ्यों का उद्घाटन यहाँ समीचीन होगा। टैगोर जिस राजनीति के प्रति सशंकित हैं, उसका वर्तमान की राजनीति में परिमार्जन के द्वारा समाधान संभव नहीं है। अरस्तू की जिस राजनीति में हन्ना आरेन्ट समाधान खोजती हैं वह स्वयं एक अभिजन क्रिया है और अपने को 'वर्क' तथा 'लेबर' से श्रेष्ठ होने का दम्भ पाले बैठा है। ऑकशाट दिन–प्रतिदिन के प्रशासन और अर्थव्यवस्था के नियोजन से राजनीति को पृथक् रखने का सुझाव देते हैं और हन्ना आरेंट विचारधारा की भूमिका को न्यून करने का सुझाव रखती हैं। इसी तरह मैक्फर्सन व्यक्ति की दोहनात्मक क्षमता के स्थान पर सहयोगात्मक क्षमता के उत्थान के द्वारा एक विकासात्मक लोकतंत्र के जरीए समस्या का समाधान खोजते हैं। टैगोर इस पूरी समस्या को यंत्र होते जा रहे समाज में देखते हैं, जिसमें राजनीति और उद्यम भी हैं और इसका उत्पाद राष्ट्र भी है। इस यंत्र का इंजन (इंजन को राष्ट्र के रूप में समझें) आज अपने को बड़ा करने में लगा हुआ है। इस अवस्था में यंत्र के जो पुर्जे (मनुष्य) हैं वे मानो किसी प्रेत की पकड़ में आ गये हैं। ऐसे में जब मनुष्य की नैतिकता आवाज उठाती है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तब सम्पूर्ण यंत्र चरमराने लगता है या उसे थामें पुर्जे चिल्लाने लगते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि मानवीय हृदय मशीन के स्वचालन (आटोमेशन) का शिकार हो गया है।[21] उल्लेखनीय है कि कार्ल मार्क्स भी मशीन और आटोमेशन की चर्चा करते हैं किन्तु यह आटोमेशन उनके लिए उत्पादन बढ़ाने का और उत्पादन को विवेकीकृत करने का अपरिहार्य माध्यम भी है। भले ही इससे मजूदरों की छटनी होती है और मजदूर बेरोजगार होकर भुखमरी के कगार पर पहुँच जाते हैं। कार्ल मार्क्स के पास इस भुखमरी और बेराजगारी से बचने का साधन उत्पादन के संबंधों में क्रान्तिकारी बदलाव लाना है। टैगोर जहाँ से खड़े होकर इस समस्या को देख रहे हैं वहाँ से उत्पादन के संबंधों में क्रान्तिकारी बदलाव मशीन बन चुके समाज में बदलाव नहीं ला सकता है। मार्क्स के हवाले से इस समस्या का भी समाधान दिया गया है। वह समाधान है राजनीति एवं समाज के स्वरूप में बदलाव लाना और उसका आधार 'प्रैकसिक्स' को बनना है। परन्तु, मार्क्सवादी राज्यों में प्रैक्सिक्स राष्ट्र को तिरोहित नहीं कर पाया। बेनेडिक्ट एन्डरसन का अध्ययन इस तथ्य को पूरे प्रमाण के साथ उजागर कर दिया है। इसी कारण राष्ट्र को जैसे परम्परागत रूप से परिभाषित किया जाता रहा है, अब राष्ट्र को उस दृष्टि से हटकर समझने की जरूरत है और वही टैगोर के चिन्तन में एक विशिष्ट रूप से उपस्थित हुआ है।

गुरूदेव कहते हैं कि राष्ट्र के द्वारा शासन न तो ब्रिटिश है न ही कुछ और है, बल्कि यह एक अनुप्रयुक्त विज्ञान (एपलाइड सांइस) है। यह हर जगह एक ही तरीके से प्रयुक्त होता है। वह तरीका है हाइड्रोलिक दबाव का तरीका जो अवैयक्तिक होने के कारण पूर्णतया प्रभावी होता है। दबाव का स्वरूप मशीन की (राष्ट्र के अर्थ में) आकृति पर जरूर निर्भर करता है किन्तु उनका तात्त्विक या सार रूप एक ही जैसा होता है।[22] मानव सभ्यता के इतिहास में अब तक और विशेषकर भारत में अनेक विदेशी शासन स्थापित हुए हैं। इन सभी में कुछ न कुछ मशीनी तत्त्व जरूर रहा है। परन्तु अन्य शासन के स्वरूप और राष्ट्र द्वारा शासन के स्वरूप में अन्तर यह है कि बाकी के शासन हैंडलूम की तरह रहे हैं और राष्ट्र के द्वारा शासन पावरलूम की तरह है। हैंडलूम की तरह का शासन अर्थात् भारत में अंग्रेजों के पूर्व का शासन जीवन्त अनुभूतियों और जीवन के संगीत से संगति को बनाये रखता है; जबकि पावरलूम की तरह का राष्ट्र वाला शासन निरन्तर समाज को एकरस (एकरूपता के संदर्भ में समझें) और जीवन–विहीन बना देता है।[23]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

टैगोर का उक्त विवेचन भी सावरकर के प्रतिकूल है। जीवन्त प्रजातियों के रूप में भारतीयों का आपसी सौहार्द और उस सौहार्द की वजह से भारतीयों में एकताबोध विकसित होना अपनी मिट्टी की सुगन्ध और जीवन के संगीत का परिणाम है। परन्तु, पश्चिमी राष्ट्र की प्रतिक्रिया या पश्चिम के राष्ट्र क्या कर रहे हैं (हिन्दुत्व में ऐसे उदाहरणों की भरमार है), इसकी प्रतिक्रिया में शासन के सिंबल के आधार पर एकता को प्रोत्साहित करना एक अलग तथ्य है। यह तथ्य भले ही तात्कालिक रूप से हमे लाभ प्रदान कर दे, परन्तु यह एक सभ्यता के रूप में हमारी पराजय ही है। यह विदेशी शासन के द्वारा किसी भूत–प्रेत की तरह मनुष्य की आत्मा पर आधिपत्य जमा लेना है। यही असली पराजय भी है।[24] टैगोर का यह विवेचन अम्बेडकर के खिलाफ भी जाता है। द्रष्टव्य है कि जिस तरह सावरकर प्रतिक्रियात्मक बोध से हिन्दुत्व का संगठन करते हैं उसी प्रतिक्रियात्मकता के बोध से अम्बेडकर दलितों का संगठन करते हैं। यह एक प्रकार का सुरक्षा बोध है, परन्तु हमे नहीं भूलना चाहिए कि पश्चिमी राष्ट्र सुरक्षा बोध से राष्ट्र बनने के चक्कर में अपनी भी स्वतंत्रता को खो बैठे हैं। आज राष्ट्र ही राष्ट्र का सबसे बड़ा शत्रु बन गया है।[25] भारतीय राष्ट्रवाद के संदर्भ में विचार करते हुए टैगोर लिखते हैं कि भारत की वास्तविक समस्या राजनीतिक नहीं है अपितु वह सामाजिक समस्या है। इस समस्या का हम राजनीतिक हल निकालने की कोशिश करेगें तो हम अपने सबसे कमजोर अंग को मिटाने की कोशिश करने लगेंगे। आज के भारत की सामाजिक समस्या मुख्य रूप से वही है जो सुदूर अतीत से प्रजातीय समस्या के रूप में हमारे सामने रही है। इस समस्या के रहते हुए भी नानक, कबीर, चैतन्य आदि नें सभी प्रजातियों के ईश्वर की एकता का संदेश दिया है। भारत की यह समस्या तकनीकी सुविधाओं के कारण एक देश बनते जा रहे विश्व में सबकी समस्या बनती जा रही है। यदि भारत अपने अनुभवों से अपनी समस्या का समाधान करके विश्व को कोई मार्ग उपलब्ध कराता है तब यह मानवता के लिए भारत की सबसे बड़ी सेवा होगी।[27]

पश्चिमी समाजों को राष्ट्र ने अपनी गिरफ्त में क्यों ले लिया और राष्ट्रवाद को भारत में वैसी सफलता क्यों नहीं मिली? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए रविन्द्रनाथ टैगोर ने प्राचीन सभ्यताओं और भारत के बीच एक महत्त्वपूर्ण अन्तर को प्रदर्शित किया है। वे कहते हैं कि यूरोप में जहाँ भारत की तरह प्रजातीय विभिन्नता नहीं थी परन्तु उनके प्राकृतिक संसाधन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सीमित थे और जिसके चलते उन्होंने राजनीतिक और व्यापारिक वर्चस्व वाली सभ्यता का निर्माण किया। परन्तु, भारत की सभ्यता इस दृष्टि से भिन्न है और यहाँ राष्ट्रवाद का वैसा भाव कभी नहीं रहा है जैसा कि पश्चिम में देखा गया है।[28] यदि हम भारत की भूमि पर पश्चिमी सभ्यता का नकल करते हैं तब वह कभी भी उससे अधिक अच्छा नहीं हो सकता है जो हमारी ही जमीन से उत्पन्न हुआ हो। टैगोर स्पष्ट कहते हैं कि मेरे विचार किसी विशिष्ट राष्ट्र के विरूद्ध नहीं हैं।[29] राष्ट्र लोगों की संगठित शक्ति का ऐसा प्रारूप है जो लगातार जनसंख्या को मजबूत और प्रभावी बनाने में लगा रहता है। परन्तु यह जिस शक्ति को अर्जित करता है वह राष्ट्ररूपी मशीन के उद्देश्य से परिभाषित होता है न कि मानवता और मनुष्य की सर्जनात्मकता से संचालित होता है। यह मशीन जिस बुद्धिमता को जन्म देती है वह पूर्ण नैतिक व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक नहीं है। इस दृष्टि से राष्ट्रवाद के खतरे से हमें बचना चाहिए और हमारी अपनी मिट्टी की जो पृष्ठभूमि है उसी से अपना विकल्प चुनना चाहिए।

राजनीतिक राष्ट्रवाद एक खतरा है। इस तथ्य को समझने के लिए हमे पुनः सावरकर और अम्बेडकर प्रकरण पर आना होगा। सावरकर मराठा राज्य और पेशवा राजाओं की खूब प्रशंसा करते हैं, क्योंकि उन्हें उन पात्रों में मराठा साम्राज्य के अन्तर्गत भूक्षेत्रीय अखंडता के प्रति समर्पण और राजनीतिक एकीकरण का गौरव बोध दिखाई पड़ता है। यह भी राजनीतिक राष्ट्रवाद का ही एक प्रतीक है। किन्तु, अम्बेडकर उसी पेशवा साम्राज्य में दलितों पर थोपी गई अनेक बंधनों और निर्योग्यताओं के कारण उसकी सख्त आलोचना करते हैं। इस उदाहरण में राजनीतिक राष्ट्रवाद अपने लोगों को ही विभाजित करने वाले तत्त्व के रूप में प्रकट होता है और इससे न तो पेशवा पूर्णता को प्राप्त हो सकते थे और न ही वह दलित समुदाय जिनका वे शोषण कर रहे थे। आज की दुनिया की हालातों में रविन्द्रनाथ टैगोर के राष्ट्रवाद संबंधी विचारों पर संशय होना स्वाभाविक है, क्योंकि बढ़ते हुए पूँजीवाद को अपना असली चेहरा छुपाने के लिए समाज को एक मशीन बना देने की प्रवृत्ति पहले की अपेक्षा अधिक घनीभूत हो गयी है। जापान में भी जब 1916 में टैगोर प्रवास पर थे तब वहाँ की जनता ने जो उनको सम्राट की तरह सम्मानित किया था। परन्तु, राष्ट्रवाद पर भाषण देकर जब वे वापस आ रहे थे तब उनके साथ सिर्फ उनका होस्ट ही था।[30] परन्तु जो चेतावनी टैगोर उन्हें दे आये थे उसको अनसुना करने के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दुष्परिणाम से भी वे आज वाकिफ हैं। टैगोर हमें एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि प्रदान करते हैं और कम से कम भारत में हमें उसकी अनदेखी नहीं करनी चाहिए। हमें महान सभ्यता होने के नाते राष्ट्र बनना चाहिए न कि राष्ट्र होने के कारण अपनी महान सभ्यता को राजनीतिक गतिकी से परिभाषित करना चाहिए। राष्ट्रवाद हमेशा से यदि एक वरदान है तो यह एक अभिशाप भी रहा है।[31] इसे अभिशाप बनने से बचाने में ही भारत और मानवता का कल्याण निहित है।

महर्षि अरविंद

जो आकाश की नीलिमा और जंगल की हरियाली को अपने ही से रंग से रंगता है, जो आकाश के गर्भ में सोई हुई हवा को जगाता है, यह वही है जो हमारे मस्तिष्क में विचारों को गढ़ता है।[32] यह वही है जो हजारों रथियों के विरूद्ध अकेले वीर को विजय का साहस भरता है और यह वही है जो देवव्रत से भीषण प्रतिज्ञा करवाकर उसे पूरा कराता है।[33] उसी का प्रकाश एशिया के लोगों में शांति दूत की तरह और यूरोपीय आँखों में तीक्ष्ण चमक के साथ प्रकट होता है।[34] महर्षि अरविंद की इन कविताओं में जो कर्ता होकर भी कर्तृत्व भाव से परे है, क्या वह भारत और पाकिस्तान को रैडक्लिफ ब्राउन रेखा से विभाजित दो अलग–अलग राष्ट्र की तरह देखता है? क्या वह एशिया और यूरोप को एक दूसरे को नष्ट कर देने वाले जीव की कार्य–योजना को पूरा करने के लिए बनाया है? इन प्रश्नों का साधारणतया यही उत्तर होता है – नहीं। उस ब्रह्म ने जिस सृष्टि की रचना की है, उसमें जब वायु, प्रकाश, शीतलता, उष्मा, जल आदि प्राकृतिक तत्त्व सभी को जातिभेद और क्षेत्र भेद से प्रभावित नहीं करते हैं तब उसका उद्देश्य स्वाभाविक तौर पर एक दूसरे के विरूद्ध नहीं है। फिर हम ऐसा क्यों देखते हैं कि आज के राष्ट्र एक दूसरे के विरूद्ध संघर्ष में लगे हुए हैं? यदि यह संसार एक विराट ब्रह्म की ही कार्य–योजना का परिणाम है तो इसमें क्या उद्देश्य है और इस उद्देश्य को वह किस पड़ाव पर ले जाकर पूर्ण करेगा तथा स्वयं मनुष्य आत्मचेतन रूप से उस उद्देश्य को कब जान पायेगा ? महर्षि अरविंद का राष्ट्रवाद इन्हीं पक्षों को न केवल उद्घाटित करता है बल्कि राष्ट्रवादी चिंतन को नये रूप में प्रस्तावित भी करता है।

राष्ट्र आज जैसे हैं और यहाँ तक जैसे पहुँचे हैं तथा भविष्य में इनका रूपान्तरण किस प्रकार का होगा, इन प्रश्नों का अरविंद ने विस्तार से समाधान किया है। इनको समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि मनुष्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के समाज में तथा स्वयं मनुष्य में जो घटित होता है वह प्राकृतिक घटनाओं के चक्र पर निर्भर करता है। यह भी कहें कि प्रकृति के गर्भ में जो घटनायें घटित हो चुकी होती हैं वही मनुष्य के समाज में भी घटित होती हैं। मानों प्रकृति की घटनाओं को न तो हीगल द्वारा प्रस्तावित द्वंद्ववाद के एकरेखीय सूत्र में समझा जा सकता है और न उत्तर–आधुनिकतावादी सूत्रों से समझा जा सकता है। क्योंकि, प्रकृति जिस कार्य–योजना को लेकर चलती है उसे बीच में ही छोड़ भी देती है और फिर कभी पहले की अपेक्षा बेहतर कार्य–योजना से फिर उसे पूरा करने में लग जाती है।[35] प्रकृति आत्मचेतन है परन्तु उसे आत्मचेतन होने का चैतन्यबोध नहीं है और मनुष्य स्वचेतन है। मनुष्य को स्वचेतन और आत्मचेतन का योग बनना है क्योंकि वही आत्मचेतन होने के चैतन्यबोध से युक्त हो सकता है। प्रकृति मनुष्य के लिए बाह्य परिस्थितियाँ उत्पन्न करती है और तब तक करती रहती है, जब तक वह आत्मचेतन होने की चेतना में जाग्रत नहीं हो जाता है। प्रकृति की भौतिक परिस्थितियाँ असफल होती हुई सी भी दिखती हैं, क्योंकि मनुष्य आज जिस यान्त्रिक विवेक से संचालित है वह प्रकृति की योजना को असफल करती है।[36] यह असफलता हमारी विशिष्ट चेतना की एक धरातल पर दिखने वाली असफलता है। परन्तु, चेतना के उच्च धरातल पर यह एक प्रवाह है। उस प्रवाह में प्रकृति पुनः भौतिक परिस्थितियाँ निर्मित करती है, जहाँ स्वाभाविक रूप से मनुष्य को आत्मचेतन होने के प्रति चेतन होना है। उस स्तर पर राष्ट्रवाद को राजनीतिक चोंगा फेंककर एक धर्म हो जाना है। प्रकृति और राष्ट्रवाद के सन्दर्भ को समझने के लिए यहाँ दो तथ्यों पर विचार कर लेना आवश्यक है, जिसमें से एक का सन्दर्भ जॉन लॉक से है और दूसरे का सन्दर्भ भगवद्गीता से है। अरविंद राष्ट्रवाद को प्राकृतिक धारणा मानते हैं। यह इस कारण प्राकृतिक नहीं है कि यह सृष्टि की उत्पत्ति के समय से ही विद्यमान है बल्कि प्राकृतिक इसलिए है कि प्रकृति में जो एकता है उसी एकता की आत्मचेतन चेतना के रूप में राष्ट्रवाद मानवजाति में अभिव्यक्ति है। जॉन लॉक जो कि स्वतन्त्रता, सम्पत्ति एवं जीवन के अधिकार को प्रकृति प्रदत्त मानते हैं, वे भी यदि राष्ट्रवाद को ही सिर्फ प्रकृति प्रदत्त मान लेते तब भी राष्ट्रवाद से ही जनकल्याण के लिए सीमित एवं संवैधानिक शासनतन्त्र की बात कर सकते थे। जिस तरह प्राकृतिक अधिकार अविच्छेद्य एवं अविधेय हैं उसी प्रकार राष्ट्रवाद भी अविच्छेद्य एवं अविधेय है। परन्तु लॉक के लिए प्राकृतिक अधिकार महज एक संकल्पना है, जिसके जरीये उन्हें

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शासन को सीमित रखने का ऐसा आधार तैयार करना था, जिसमें नवोदित पूँजीवाद फल–फूल सके। लॉक के चिन्तन में प्राकृतिक अधिकार आत्मचेतन प्रकृति का उपहार नहीं है। इसके विपरीत अरविंद के चिंतन में राष्ट्रवाद आत्मचेतन प्रकृति का मनुष्य के लिए उपहार है जो उसे सृष्टि की एक इकाई के रूप में विशिष्ट पहचान को नष्ट किए बिना एक बृहद् या अतिमानवीय पहचान देता है। विशिष्ट पहचान सम्पूर्ण सृष्टि के सन्दर्भ में लघुता है। इस लघुता को राष्ट्रवाद महानता में बदल देती है, यह सीमित अर्थों में जीव का ब्रह्म होना है; पर इससे जीव के रूप में पहचान का विघटित होना नहीं है। भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं कि 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणकर्माणि सर्वशः, अहंकार विमुढ़ात्मा कर्ताहमितिमन्यते।' अर्थात् प्रकृति के गुण–धर्मों के आधार पर ही मनुष्य की प्रवृतियाँ निर्भर करती हैं, परन्तु अज्ञानवश मनुष्य अपने को कर्ता समझता है। भगवद्गीता में ही इस कर्तृत्वबोध का कारण 'त्रिगुणात्मिका बुद्धि' को बताते हुए अर्जुन को 'नैस्त्रैगुण्यो भर्वाजुन' का निर्देश दिया गया है। त्रिगुणात्मिका बुद्धि भेद बुद्धि है। इसमें बायनेरी संबंध पलते हैं। परन्तु, प्रकृति जो ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है वह स्वचेतन मनुष्य के ह्वदय के अंधकार और बुद्धि की मलिनता के बीच भी उसे जागृत करने में लगी रहती है। यह सावित्री की प्रारंभिक पंक्तियों में कुछ इस तरह व्यक्त हुआ है– रात्रि के घोर तुमुल में मन जहाँ अभी दैवीचेतना के उदय से पूर्व शाश्वत और अनन्त को आद्य और सर्वथा रहित के मध्य जो है उसे नहीं जान पाया है।[37] मन का यह अंधकार जब त्रिगुणात्मिका बुद्धि को त्याग कर उपर उठती है तब अर्जुन को जिस तरह कृष्ण का शिष्यत्व प्राप्त होता है या जीव को जिस तरह ब्रह्म का भान होता है उसी तरह 'सेल्फ इगो' से मुक्त अवस्था में मनुष्य राष्ट्रवाद के धर्म को जान पाता है। परन्तु, यह सेल्फ इगो भी स्वयं एक प्राकृतिक तत्त्व है।

उक्त तथ्य को एक उपमा के द्वारा समझाया जा सकता है। अपने घर के फ्रीज में जमें हुए बर्फ और अपने शहर के स्वीमिंगपूल को देखकर क्या हमें उसी तरह की अनुभूति होती है जो पहाड़ों पर जमे हुए बर्फ और सागर के जल को देखकर होती है? इसका निर्विवाद उत्तर तो यही है कि किसी को भी उक्त दृश्यों में अलग–अलग अनुभूति होती है। एक में स्वामित्व बोध है और यह सेल्फ इगो है। दूसरे में विराटता का बोध है, परन्तु वह 'अदर इगो' भी है। सेल्फ इगो और अदर इगो प्रकृति में किस उद्देश्य से संचालित होते हैं और फिर इनमें एकता कैसे आती है, इस तथ्य को महर्षि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अरविंद ने विस्तार से दर्शाया है। वे लिखते हैं कि प्रकृति की सम्पूर्ण प्रक्रिया जीवन के दो ध्रुवों के मध्य निरन्तर संतुलन और सामंजस्य में लगी हुई है।[38] मनुष्य का जीवन भी इस नियम का अपवाद नहीं है। मनुष्य के जीवन में यह दो ध्रुव व्यक्ति और समाज है। एक पूर्ण विकसित समाज वह समाज होगा जो व्यक्ति की पूर्णता प्राप्ति के प्रयासों में सहयोगी हो, परन्तु व्यक्ति की पूर्णता प्राप्ति के प्रयास तब तक अधूरे रहेंगे जब तक कि उस पूर्णता प्राप्ति का लाभ समाज की सामूहिकता को बढ़ाने में सहायक न हो।[39] यहाँ अरविंद का यह विवेचन जॉन राल्स की पूर्व सूचना देता है। जॉन राल्स ने भी अपने न्याय सिद्धान्त में व्यक्ति के द्वारा उपार्जित लाभों हेतु उसे स्वतन्त्र छोड़ दिया है, इस शर्त पर कि इससे समाज के निम्नतम धरातल पर रहने वाले लोगों का भी लाभ सुनिश्चित किया जायेगा। हालाँकि राल्स का सन्दर्भ न्याय–योजना तक ही सीमित है, जबकि अरविंद के सूत्र में पूरी सभ्यता को समझने का व्याकरण है। प्रकृति अपने विकास के क्रम में ऐसी जटिलताएँ उत्पन्न करती है, जिससे व्यक्ति का सामूहिक मानवता के साथ प्रत्यक्ष एवं सीधा संबंध स्थापित नहीं हो पाता है। यह संबंध क्रमिक रूप से और धीरे–धीरे बनता है।[40] मनुष्य की चेतना के अलग–अलग स्तर पर अलग–अलग तरह के संगठन बनते हैं, जिन्हें प्रकृति तब तक बनाये रखती है जब तक कि वे पूरी तरह अनावश्यक न हो जाएँ। परिवार, गोत्र, जाति, वर्ग, शहर और राज्य सबके सब किसी न किसी तरह की एकता को स्थापित करते हैं। राष्ट्र भी एकता का एक माध्यम है। मानव चेतना के विकास के साथ–साथ मानवता की ओर एकता की गति भी निरन्तर चलती रहती है। एकता की इस गति को मुख्यतः दो तत्त्व दुष्प्रभावित भी करते रहते हैं। उनमें से एक है व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के हितों के मध्य टकराव और दूसरा है छोटी इकाईयों (परिवार, वंश, वर्ग आदि) की एकता और बड़ी इकाईयों की (राज्य, राष्ट्र) एकता के मध्य टकराव।[41]

छोटी इकाइयों और बड़ी इकाइयों के मध्य मानवजाति के इतिहास के प्रारम्भ से ही एक दिलचस्प संबंध रहा है। छोटी इकाइयों का बड़ी इकाइयों के साथ (आरम्भ में व्यक्ति का परिवार के साथ और परिवार का गोत्र के साथ, गोत्र का ट्राइब के साथ) अधीनस्थता का संबंध रहा है। परन्तु, सभ्यता के विकास के साथ–साथ मानवीय मस्तिष्क का भी विकास होता है और इस क्रम में छोटी इकाइयों द्वारा निजता (इंडिविजुअलिटी) की मांग भी उठती है। व्यक्ति और समूह के बीच का यह संघर्ष प्रकृति की दो प्रवृत्तियों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

निजता और सामूहिकता की अन्तःक्रिया की ही तरह है। पदार्थों एवं प्राणियों को अपनी विशिष्टता के विकास की पूर्णता के लिए निजता अपेक्षित है, परन्तु इसकी उपलब्धता किसी न किसी सामूहिकता में ही होती है। उदाहरण के लिए एक बीज को यदि हवा, पानी, प्रकाश और मिट्टी की सामूहिकता से बिल्कुल अलग कर दिया जाय तो उसकी निजता भी नष्ट हो जायेगी और वह आगे के विकास से वंचित होकर समाप्त हो जायेगा। परन्तु, यदि उसे अतिशय हवा, पानी, प्रकाश या मिट्टी के सामूहिक दबाव में छोड़ दिया जाय तब भी वह समाप्त हो जायेगा। अतः जिस तरह निजता और सामूहिकता का संतुलन और समन्वय प्रकृति में होता है वैसा ही मनुष्य और समाज में भी हो, यह अरविंद की दृष्टि में एक प्राकृतिक नियम है।[41] यहाँ अरविंद हीगल और मार्क्स के बीच के अन्तर्विरोध का समाधान करते हुए दिखते हैं। हीगल और मार्क्स दोनों के लिए ही सृष्टि का विकास प्राकृतिक नियमों का प्रतिफल है; भले ही मार्क्स इसे प्राकृतिक नियम और हीगल उसी को दैवी योजना कहते हों। परन्तु दोनों ने ही द्वन्द्वात्मक विकास की प्रक्रिया को ऐसे प्रदर्शित किया है जैसे यह दो भिन्न–भिन्न निजताओं का संघर्ष हो और जिसमें एक निजता को दूसरी निजता के द्वारा समाप्त कर दिया जाना या एक कामचलाऊ समायोजन विकसित कर लिया जाना लक्ष्य हो। परन्तु, दोनों की आदर्श अवस्थायें ऐसी हैं जहाँ दोनों विरोधी निजताओं का ऐसा रूपान्तरण हो जाता है, जैसे कि वे पहले कभी रहे ही न हों।[43] हीगल और मार्क्स के विकास प्रारूप में उन्नयन के बाद प्रसार है किन्तु प्रसार के क्रम में दो विरोधी तत्त्वों या पहचानों में से एक का संकुचन है। जबकि, अरविंद ने जिस विकासक्रम को दर्शाया है उसमें उन्नयन के बाद एकीकरण है।

एकीकरण के क्रम में प्राकृतिक तत्त्वों में होने वाला संतुलन और समन्वय तथा मनुष्य की चेतना तथा समाज में होने वाला संतुलन और समन्वय एक ही प्रकार का नहीं है। प्रकृति के विभिन्न तत्त्व जब आपस में मिलकर किसी सामूहिक घटक का निर्माण करते हैं (जैसे हाइड्रोजन का एक अणु और आक्सीजन के दो अणु मिलकर पानी बन जाते हैं) तब वे अपने मूलतत्त्व की जाति से अलग होकर सर्वथा एक नये तत्त्व का निर्माण करते हैं और मूलतत्त्व से उनका संबंध विच्छेद हो जाता है। परन्तु, मूलतत्त्व में लौट आने की उनकी निजता बनी भी रहती है। यद्यपि प्रकृति जिस संतुलन को बनाये रखती है उसमें यह प्राकृतिक रूप से संतुलन के सन्दर्भ से सन्दर्भित घटना होती है। परन्तु, मनुष्य जब किसी सामूहिक घटक का सदस्य बनता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है तब वह अपनी निजता और दूसरे घटकों से अपना संबंध विच्छेद नहीं कर लेता है। ठीक वैसे ही जैसे एक ही व्यक्ति परिवार, वंश, वर्ग, जाति, राज्य और राष्ट्र का घटक होता है। मनुष्य को राज्य का घटक होने पर अपनी जाति या परिवार से संबंध विच्छेद नहीं करना होता है। मनुष्य के पास राज्य या राष्ट्र से संबंध विच्छेद कर परिवार और जाति में वापस लौट आने की गुंजाइश भी नहीं होती है। इसीलिए मनुष्य के समाज में पायी जाने वाली निजता और सामूहिकता का निराकरण निजता बनाम सामूहिकता में नहीं बल्कि सामूहिकता को समावेशी और निजता को इंडिविजुअलिटी से पर्सनालिटी की ओर बढ़ने में है। यह एक ऐसा विकासक्रम है, जिसमें निजता और सामूहिकता दोनों को अपनी बनी बनायी दिवारों को तोड़ना है। मानवजाति में मानव होने की जो एकता है उसे आज की निजता और आज की सामूहिकता में प्राप्त करना सम्भव नहीं है। क्योंकि, आज के मनुष्य की निजता और आज के राष्ट्र–राज्य की सामूहिकता, चेतना के उस अपेक्षित धरातल तक नहीं पहुँच पाये हैं; जहाँ पहुँचकर इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता हो।

आज के समय का राज्य एक ऐसा राज्य है, जिसके समक्ष व्यक्ति को हीन ही होना है। सैद्धान्तिक रूप से राज्य के समक्ष व्यक्ति की यह अधीनता सामूहिक शुभ की माँग है। व्यावहारिक रूप से यह अधीनता शासकवर्ग द्वारा निर्धारित सामूहिक उद्देश्यों (राजनीतिक, आर्थिक एवं सैन्य आदि) एवं महत्त्वाकांक्षाओं के सामूहिक अहम के समक्ष समर्पण है, जिसके द्वारा किन्हीं सामूहिक लक्ष्यों को प्राप्त किया जाना है।[44] परन्तु, हमारे समय के राज्यों का सामूहिक उद्देश्य शाब्दिक मोहजाल ही अधिक है। आज के राज्यों के शासक भी राष्ट्र की उच्च चेतना, श्रेष्ठ मन और पवित्र उद्देश्य को भी अभिव्यक्त नहीं करते हैं। आज के राज्य, चाहे वे जैसे भी हों, कहीं भी राजनेता अपनी जनता की आत्मिकचेतना का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। वे सामान्यतः औसतदर्जे का अहम, स्वार्थ और औसत दर्जे का ही नैतिक चरित्र और मानसिक क्षमता का प्रतिनिधित्व करते हैं।[45]

यह एक विचारणीय तथ्य है कि जिन संगठनों और राज्यों की संगठितशक्ति को देखकर सावरकर प्रतिक्रियात्मक रूप से हिन्दुत्व की अवधारणा का प्रतिपादन करते हैं उन राज्यों और संगठनों में नैतिक चरित्र और आत्मबोध के अभाव के कारण अरविंद उनकी निंदा करते हैं। अरविंद कहते हैं कि आज के संगठित राज्य न तो राष्ट्र के सर्वोच्च मस्तिष्क हैं और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

न ही यह समूह की पूर्ण ऊर्जा हैं। बल्कि यह समूह की संगठित क्रियात्मकता को दबाते हैं और हतोत्साहित करते हैं। यह ऐसे चिन्तनशील मस्तिष्क को जो वर्तमान में सबसे अच्छे सिद्ध हो सकते हैं और भविष्य को नई दिशा दे सकते हैं, उसे भी पनपने से रोकते हैं। वास्तव में राज्य का सामूहिक अहम एक निम्न कोटि का सामूहिक अहम होता है और इसके पास समाज की तरह का नैतिक बल भी नहीं होता है। राज्य के पास जो बल है वह अर्थशक्ति और सैन्यशक्ति का बल है। दुर्भाग्य से यही बल, जिसकी बौद्धिकता और नैतिकता भी अधूरी और अविकसित होती है, अपने अधकचरे नैतिकता और ज्ञान को समाज पर थोपने का प्रयास करता है। यह राज्यों का आन्तरिक चरित्र है और इसी चरित्र का जब वे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर परिचय देते हैं तो भीषण जानवर (ह्यूज बीस्ट) की ही तरह प्रतीत होते हैं।[47] ऐसे राज्य के द्वारा व्यक्ति से बलिदान की अपेक्षा करना उच्च आदर्शों के बिल्कुल विपरीत है। राज्य ने जब सावयव का स्वरूप धारण ही नहीं किया है और वह एक मशीन बना हुआ है तब वह सावयव जैसी इच्छा रखने का अधिकारी भी नहीं हो सकता है। यह एक ऐसा पक्ष है जहाँ अरविंद राज्य और राष्ट्र के मध्य रेखा खींच देते हैं। अरविंद राष्ट्र को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि मानव प्रगति की वर्तमान अवस्था में राष्ट्र मानवजाति की जीवित सामूहिकता की इकाई है।[48] राज्य एवं राष्ट्र के मध्य अरविंद के द्वारा खींची गई विभाजक रेखा अध्यात्मिकता की विभाजक रेखा है। ऐसा किया जाना महज परिस्थितियों की माँग नहीं थी, जिसके अन्तर्गत विशेषतया अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में राष्ट्र और राष्ट्रवाद को समझा गया।[49] बल्कि ऐसा तीन कारणों से संभव हुआ। प्रथम, अधिकांश यूरोपीय विचारकों ने जिन्होंने राष्ट्र और राष्ट्रवाद के विमर्श को तैयार किया उन्होंने राष्ट्र के शरीर पक्ष को, जो कि राज्य है, केन्द्र में रख दिया और उसके आत्म पक्ष की जो राष्ट्र है उसकी अवहेलना की। द्वितीय, पश्चिम के राष्ट्रवाद का विमर्श मानव एकता के आदर्श में सहभागी होने के स्थान पर प्रतिरोधी अधिक साबित हुआ। तृतीय, पश्चिम की मानवता विरोधी राष्ट्रवाद की संकल्पना से भारतीय राष्ट्र और राष्ट्रवाद को नहीं समझा जा सकता था।

राष्ट्रवाद को परिभाषित करते हुए अरविंद कहते हैं कि यह मात्र राजनीतिक कार्य–योजना नहीं है। बल्कि राष्ट्रवाद एक धर्म है जो सीधे ईश्वर से आया है। राष्ट्रवादी होने का तात्पर्य मानवजाति की जीवित सामूहिकता के प्रति धार्मिक भाव से आचरण करना है।[50] पश्चिम के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विचारकों के लिए पश्चिमी ज्ञानोदय का अहमवादी व्यक्ति उनकी अनेक अवधारणाओं का प्रेरक तत्त्व है। वह उनके राष्ट्रवाद की अवधारणा का भी प्रेरक तत्त्व है। इसी कारण उनके चिंतन में राष्ट्रवाद के 'नेशनल इगो' को अभिव्यक्ति मिल जाती है, परन्तु 'नेशनल सोल' उनके चिंतन में अनुपस्थित रह जाता है। अरविंद के राष्ट्रवाद में यह दोनों तत्त्व उपस्थित हैं। नेशनल इगो समूह की अवांछनीय आदतों, पूर्वाग्रहों इत्यादि की आत्मनिष्ठता (सब्जेक्टिवीटी) में प्रकट होती है। नेशनल सोल राष्ट्र की गहन अन्तश्चेतना की आत्मनिष्ठता में प्रकट होती है।[51]

यदि यह मान लिया जाय कि मानवीय चेतना ने जो सर्वोच्च विकास सम्भव है उसे प्राप्त कर लिया है तब आज के राष्ट्र–राज्य और आज का राष्ट्रवाद मानव एकता के आदर्श के लिए अभिशप्त दशा हैं और इसी अभिशप्त दशा में उनका नाश भी हो जाना है। परन्तु, यह किसी भी आशावादी और मानवीय क्षमता तथा गरिमा में विश्वास करने वाले विचारक को स्वीकर्य नहीं होगा। महर्षि अरविंद भी मानव एकता के आदर्श को स्थापित करने वाले राष्ट्रवाद की प्रत्याशा रखते हैं। यह प्रत्याशा उनकी तमाम रचनाओं में झलकती है और सावित्री में सबसे अधिक मुखरित हुई है। अरविंद कहते हैं कि भारतीय राष्ट्रवाद की यह अनुपम विशिष्टता है कि इसने घनघोर केन्द्रापसारी (विघटनकारी, सेन्ट्रिफ्यूगल) शक्तियों के दबाव में अदम्य केन्द्रोन्मुखी शक्ति का परिचय दिया है।[52] शासन ने जितना ही एलियन (फॉरेन) प्रवृत्ति का परिचय दिया है या जितना ही दमन किया है, भारत में एकता उतनी ही घनीभूत हुई है। इससे यह सिद्ध होता है कि एक राष्ट्र के लिए हमेशा राजनीतिक एकता की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक एकता अधिक महत्त्वपूर्ण होती है।[53] इसी कारण भारत भौतिक रूप से पराधीन हुआ है, परन्तु सांस्कृतिक रूप से पराभूत नहीं हुआ। यहाँ कोई वस्तुनिष्ठता का आग्रही विचारक प्रश्न कर सकता है कि यह भारतीयों की सामान्य रूप से और अरविंद की विशिष्ट रूप से आत्मश्लाघा या आत्मप्रवंचना है। परन्तु इसी प्रश्न का वस्तुनिष्ठ दृष्टि से ही सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन करके उत्तर दिया जाय तो स्थिति बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि यह आत्मश्लाघा नहीं अपितु यथार्थ है। मुगलों और अंग्रेजों ने बारहवीं–चौदहवीं शताब्दी के आसपास से दुनिया भर में अनेकों समाजों और जातियों पर प्रभुत्व स्थापित किया है। आज उनमें से अधिकांश समाज और जातियाँ भौतिक और सांस्कृतिक पराभव को स्वीकार करते हुए मुस्लिम या ईसाई हो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

चुकी हैं। इसके उलट भारत में मुसलमानों और ईसाईयों ने भौतिक पराभव को तो अंजाम दिया किन्तु सांस्कृतिक दासता के मनोभाव को उत्पन्न नहीं कर सके। इसका कारण यह था कि भारत में मुसलमानों और ईसाईयों की बर्बर शक्ति को एक ऐसी उच्च सभ्यता का सामना करना पड़ा जिसका सामना उन्हें टेम्स से वोल्गा तक नहीं करना पड़ा था। भारत की इस उच्च सभ्यता ने भले ही पशु बल के समक्ष भौतिक समर्पण कर दिया था किन्तु इसने सांस्कृतिक रूप से आत्मसमर्पण नहीं किया। भारत के इस सांस्कृतिक विन्यास में ही इसके राष्ट्रवाद के मौलिक गुणसूत्र मुखरित होते हैं। जो इतने प्रबल हैं कि बर्बर आक्रांताओं को भी सभ्यता और मानवता की ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

यदि विधिक शब्दावली के आधार पर भारत के राष्ट्रवाद की अवधारणा को रेखांकित किया जाय तो यह कहना समीचीन होगा कि भारत के राष्ट्रवाद में रेशियो डेसिडेन्डाई अर्थात् विनिश्चयाधार वह सांस्कृतिक अवगाहन है जो शरीरधर्मा न होकर आत्मधर्मा है। द्रष्टव्य है कि महर्षि अरविंद जब अलीपुर केस के अपराधी के रूप में जेल में बंद थे, जहाँ उन्हें पहली दैवी अनुभूति हुई वहीं उन्हें भारत के स्वतन्त्र हो जाने की भी सूचना मिल गई थी। वहाँ उन्हें प्रकृति की इस योजना का भान हो गया था, जिसमें भारत जैसी सभ्यता पराधीन नहीं रखी जा सकती थी। परन्तु, महर्षि अरविंद के लिए भारत की स्वतन्त्रता का उद्देश्य मात्र एक देश की आजादी नहीं थी। बल्कि, इस आजादी का एक महान लक्ष्य था और वह लक्ष्य है मानव एकता के आदर्श के लिए पथ प्रशस्त करना। इस दृष्टि से यहाँ सावित्री के रूपकों का विश्लेषण समीचीन होगा। महर्षि अरविंद स्वयं कहते हैं कि महाभारत के सत्यवान–सावित्री कथा में जो पात्र हैं उनका मिथकीय और प्रतीकात्मक महत्त्व है। ऐसी मिथकीय एवं प्रतीकात्मक कथायें वैदिक एवं पौराणिक साहित्य में अनेक स्थलों पर उल्लिखित हैं। सत्यवान आत्मतत्त्व के प्रतीक हैं परन्तु अज्ञानतावश मृत्यु–पाश में पड़े हुए हैं। सत्यवान के पिता द्युमसेन दैवी मस्तिष्क के प्रतीक हैं परन्तु आत्मदृष्टि को खोकर अकिंचनता और अंधत्व की अवस्था को प्राप्त हो गये हैं। सावित्री के पिता अश्वपति तपश्चर्या के प्रतीक हैं जो नश्वरता से अनश्वरता की ओर बढ़ने के द्योतक हैं; परन्तु सांसारिक विरक्ति उनकी न्यूनता है, जो पुत्रहीनता के रूप में (लेखक द्वारा जोड़ा गया) प्रकट होती है। सावित्री स्वयं आत्मतत्त्व है और आत्मतत्त्व की पुनः प्रतिष्ठा के लिए अवतरित हुई है। इस कथानक की और सावित्री महाकाव्य की तीन परस्पर एक–दूसरे से जुड़े हुए सन्दर्भों में व्याख्या की जा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सकती है। प्रथम, योग भ्रष्ट मनुष्य का पुनः योग पथ पर लौट आना और उसका अपने स्वरूपज्ञान की अवस्था को प्राप्त कर लेना। द्वितीय, भारत जैसी आत्मचेतन सभ्यता का जो परतन्त्रता को ही अपना स्वरूपलक्षण मान बैठा हो उसका आत्मचेतन हो जाना। तृतीय, भौतिकता एवं क्षुद्रता से संतृप्त मानवजाति में मानवता का नवीन जागरण हो जाना। यह तीनों व्याख्याएँ श्रीमद्भगवद्गीता की व्याख्याओं के भी आधार हैं। अर्जुन व्यक्तिगत रूप से आत्मज्ञानरहित नहीं हैं, परन्तु उन्हें देहबुद्धि ने ग्रसित कर लिया है और देह बुद्धि से राष्ट्र बनाने वाले 'धृतराष्ट्राणि' के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए, उसी में अपनत्व एवं आत्मछवि देखते हुए आत्मज्ञान प्रेरित कर्म से विमुक्त होना चाहते हैं। जब अर्जुन को आत्मज्ञान रूपी कृष्ण का साथ मिल जाता है, तभी वे शरीर बुद्धि से राष्ट्र बनाने वाले धृतराष्ट्राणि (कौरवों) के विरूद्ध धर्मयुद्ध में भाग लेते हैं। यत्र योगेश्वरो कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः की उक्ति आत्मज्ञान और कर्म का संयोग है। यही संयोग बंकिमचन्द्र चटर्जी के कालजयी राष्ट्रवादी उपन्यास 'आनन्दमठ' का भी उपसंहार है। स्वयं महर्षि अरविंद ने इस ग्रन्थ का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया था। जहाँ उपसंहार में आत्मज्ञान एवं धर्म रूपी महात्मा ने कर्म रूपी सत्यानन्द का हाँथ अपने हाँथों में ले रखा है। यही दृश्य सावित्री महाकाव्य के अंत में भी प्रकट हुआ है जहाँ आत्मज्ञान एवं धर्म रूपी सावित्री ने स्वयंचेतन कर्मरूपी सत्यवान का हाँथ अपने हाँथों में ले रखा है।[56]

भारतीय राष्ट्रवाद के जागरण के सन्दर्भ में सत्यवान और सावित्री का रूपक एक अन्य दृष्टि से भी विचारणीय और महत्त्वपूर्ण है। सावित्री ने सत्यवान का वरण उनकी मातृ–पितृ भक्ति और कर्म के प्रति समर्पण के कारण किया था। यद्यपि वे राज्य भ्रष्ट हो चुके थे। यह राज्य भ्रष्टता तत्कालीन भारत की अवस्था है। एक ऐसा राष्ट्र जो अपने अतीत के गौरव बोध और उपलब्धियों को भूलकर दैहिक परतन्त्रता को ही अपनी मूल स्थिति समझ बैठा है। सत्यवान भी आत्मज्ञान विलुप्ति की अवस्था में हैं। यह रोगी के द्वारा रोगी की सेवा है, जो अन्ततः दोनों को जर्जर कर देगी। व्यक्ति राष्ट्र का घटक है। अतः वह पहले मरेगा और बाद में राष्ट्र को भी समाप्त होना ही पड़ेगा। सत्यवान रूपी युवा पीढ़ी के मरने के बाद उनके माता–पिता रूपी राष्ट्र की भी वही गति होनी है। अतः पहले सत्यवान को ठीक करना होगा। उसे आत्मज्ञान की प्राप्ति करानी होगी और यही प्रकृति की सावित्री के रूप में योजना भी है। तब जाकर राष्ट्र की सन्ततियों को उस राष्ट्र को पहचानने और गढ़ने की दृष्टि तथा कौशल मिलेगा जहाँ एक राष्ट्रवादी होने का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मतलब मानवतावादी होना है। जहाँ राष्ट्रवादी होने का मतलब दलीयनिष्ठा वाले राष्ट्रवाद की अपेक्षा अपने नागरिकों से सतत प्रेम की अभिव्यक्ति है। जिसका सार यह है कि रूग्ण शरीर और मलिन मन से राष्ट्र की सेवा सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से आत्मचेतन नागरिक होना राष्ट्रवाद की पहली शर्त है और ऐसे ही नागरिक के लिए राष्ट्रवाद एक धर्म है।

महात्मा गाँधी

जिस तरह मेकिंटायर ने आफ्टर वर्च्यू[57] का प्रारम्भ एक ऐसे पर्यावरणीय विध्वंस से किया है जिसमें विज्ञान और तकनीक के प्रति जन आक्रोश सम्पूर्ण विज्ञान और तकनीक से जुड़े ज्ञान को नष्ट कर देता है, वैसे ही हम गाँधी के राष्ट्रवाद को समझने के लिए एक ऐसे ही सादृश्यता (एनालॉजी) से प्रारम्भ कर सकते हैं। मान लीजिए किसी दिन अचानक दुनिया की सभी संचार सेवाएँ अचानक और अनिश्चित काल के लिए ठप हो जाती हैं। इस हालत में सबसे अधिक नुकसान किसे होगा? बिना किसी झिझक के यह स्वीकार किया जा सकता है कि सबसे अधिक नुकसान दुनिया के उन एक प्रतिशत लोगों को होगा जिनके पास दुनिया की निन्यानबे प्रतिशत पूँजी एवं सम्पदा केन्द्रित है। इसी तरह सबसे कम दुष्प्रभाव उनपर पड़ेगा जो आधुनिकता के तथाकथित मुक्तिकामी अभियान से अभी भी बाहर रह गये हैं। परन्तु, क्या इससे सभ्यता के शहरी केन्द्र बिलबिलाने के बावजूद नष्ट हो जायेंगे या जीवन की कोई नई दिशा तलाशने में लग जायेंगे? जाहिर है कि पहले तो वे हार नहीं मानेंगे और ठप हुए संचार व्यवस्था को दुरूस्त करने में पूरे जीजान से लग जायेंगे और इसमें भी सफल नहीं रहे तब जीवन के न्यूनतम साधन के साथ गाँवों की ओर लौट आयेंगे। क्योंकि शहरों में सड़क है, बिजली है, उद्योग है, धूल–मिट्टी नहीं है; परन्तु न तो पीने का पानी है, न ही सास लेने के लिए शुद्ध वायु है और न ही अपना उपजाया हुआ अन्न है। परन्तु जब गाँव भी इसी विकास की चपेट में आ चुके हों तब लोग कहाँ जायेंगे? ऐसी अवस्था में लोग विज्ञान और तकनीक के पुराधाओं को कोसते हुए मरते–मरते कह जायेंगे कि प्रकृति सभी मनुष्यों की आवश्यकता को पूर्ण कर सकती है किन्तु किसी एक व्यक्ति की भी लालच को पूरा नहीं कर सकती है। वे अपनी सन्ततियों को यह भी कह जायेंगे कि तुम लोग आत्मपूरित ग्रामीण सभ्यता का निर्माण करना। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आर्य जो भी थे, वे सिंधु सभ्यता के जानकार तो अवश्य ही थे। परन्तु, सिंधु सभ्यता के शहरी अवशेषों को उन्होंने वेदों में न तो जगह दी और न ही सिंधु प्रदेश से नीचे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उतरते हुए शहरी सभ्यता का निर्माण किया। इसके विपरीत आर्यावर्त के विस्तृत मैदानों में ऋग्वैदिक ऋषि आरम्भ से ही ग्रामीण सभ्यता का ही गुण—गान करते हुए मिलते हैं।

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में महात्मा गाँधी के राष्ट्रवाद को समझने के लिए सात तथ्यों पर विचार करना आवश्यक है। प्रथम, हिन्दू धर्म दुनिया का सबसे प्राचीन मिशनरी धर्म है और इसकी मिशनरी दृष्टि अन्य मिशनरी दृष्टियों से इस अर्थ में भिन्न है कि इसने कभी किसी जाति को धर्म—परिवर्तन (प्रोसिलिटाइजेशन) के द्वारा अपने मत को मानने के लिए विवश नहीं किया।[59] इस स्थिति में भारतीय सभ्यता और हिन्दू इतिहास के आधुनिक युग में जब एक सभ्यता को भौतिक—राजनीतिक दासता से मुक्ति का संग्राम संचालित करने की आवश्यकता थी तब वह अपनी आत्मा को खोये बिना कैसे अपने मत को प्रोसिलिटाइज तरीके से थोप सकती थी? द्वितीय, जब वन्दे मातरम् के रचयिता, प्रचंड राष्ट्रवादी बंकिमचंद्र चटर्जी आनन्द मठ में यह स्वीकार कर लेते हैं कि अंग्रेजों से अभी हमें बहुत कुछ सीखना है और उनसे संघर्ष करके विजय प्राप्त करने की शक्ति अभी हिन्दू जाति में नहीं आयी है।[59] तब भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का ऐसा संगठन और संचालन किस तरीके से सम्भव था जिसमें हमारा राष्ट्रीय आंदोलन दो जातियों के अहम का टकराव न बने। तृतीय, उस देश में राष्ट्रीय आंदोलन का संचालन कैसे किया जा सकता था जिसमें एक बड़ा समुदाय मनुस्मृति को आक्रोशवश सार्वजनिक रूप से जलाता हो और दूसरा वर्ग उसे आस्था का प्रतीक मानता हो? चतुर्थ, जिस देश में विदेशी दासता से मुक्ति के लिए पहले अपने ही सगे भाइयों पर प्रहार करने की स्थिति आ जाती हो, उस देश में सबके सब में स्वतंत्रता की अलख कैसे जागायी जा सकती थी? पंचम, जिस देश का एक बड़ा समुदाय यह कहता हो कि उन्हें हिन्दुओं से और मुसलमानों से कोई लेना—देना नहीं है, क्योंकि एक उन्हें गोमांस के कारण और दूसरा सुअर का गोश्त के कारण अलग—थलग किए हुए हैं।[60] उस देश में राष्ट्रवाद को एक सर्वसमावेशी ध्वज के नीचे कैसे लाया जा सकता था? षष्ठ, जब आधुनिकता की चपेट में आकर सभ्यतायें कराह रही हों और हिंसा की ज्वाला से मानवता संतप्त हो रही हो तब अपने राष्ट्रीय आंदोलन से अपनी सभ्यताबोध के द्वारा भारत दुनिया को क्या संदेश दे सकता था? और सप्तम, एक अद्वैतवादी सनातनी हिन्दू का राष्ट्रवाद कैसा हो सकता है? इन सब तथ्यात्मक प्रश्नों और ऐसे ही दर्जनों प्रश्नों का एक ही उत्तर है, और वह है – मोहनदास करमचंद गाँधी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

गाँधी के लिए भारत में राष्ट्रवाद प्राक–ब्रिटिश परिघटना है। गाँधी मानते हैं कि अंग्रेजों की रेल ने भारत को राष्ट्र नहीं बनाया है। उनका स्पष्ट मत है कि यह अंग्रेजों का सिखाया हुआ ज्ञान है कि भारत एक राष्ट्र नहीं है और भारत को एक राष्ट्र बनने में सैकड़ों वर्ष लगेंगे।[61] यहाँ यह विचारणीय है कि एंडरसन की इमेजिन्ड कम्यूनिटीज के लिखे जाने के चौहतर वर्ष पूर्व ही गाँधी ने भारत की तीर्थ यात्राओं की योजना में राष्ट्रवाद खोज निकाला था। जगन्नाथपूरी, रामेश्वर, हरिद्वार आदि की तीर्थ यात्राओं का विचार उन लोगों ने किया था जो यह भी मानते थे कि मनचंगा तो कठौती में गंगा। इस मान्यता के बावजूद तीर्थ यात्राओं का विचार भारत की एकता को समृद्ध करने के लिए ही बनाया गया था। पैदल या बैलगाड़ी पर होने वाली यह यात्रायें भारतीयों में एकता विकसित करने में अंग्रेजों की रेलगाड़ी से अधिक सहायक थीं। क्योंकि, पैदल और बैलगाड़ी पर होनी वाली यात्राओं में लोग एक दूसरे की भाषा सीखते थे। इससे लोगों में सघन एकता आती थी और तब लोगों के मध्य प्रत्यक्ष संवाद के अवसर से आने वाली एकता अधिक दृढ़ हुआ करती है। अंग्रेजों की रेलों ने और आज की तीव्रगामी संचार माध्यमों ने महीनों और वर्षों में पूरी होने वाली तीर्थ यात्राओं की अवधि को कुछ घंटों और दिनों तक सीमित कर दिया है। ऐसे में तीर्थ यात्रायें बढ़ी हैं। दूसरे तरह के पर्यटन उद्योग भी बढ़े हैं, परन्तु इससे भारत की एकता और राष्ट्रवादी मनोवृत्ति उसी अनुपात में अधिक घनीभूत नहीं हुई है। आज की यात्राओं में लोक समुदाय से यात्री का प्रायः संबंध ही नहीं होता है और यदि होता भी है तो उसमें ग्राहक और विक्रेता के संबंध अधिक होते हैं। यह थोड़ी कटु टिप्पणी हो सकती है, परन्तु अधिकांशतः आज या तो उपभोक्ताओं की तीर्थयात्रा होती है या आस्था की यात्रा को उपभोक्तावाद का बाजार बहुत हद तक प्रभावित करता ही है। प्राचीन समय की तीर्थ यात्राओं और आज की तीव्रगामी साधनों के सहारे होने वाली तीर्थ यात्राओं में जिस तरह का बदलाव आया है वैसा ही बदलाव इन यात्राओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली राष्ट्रीय एकता में भी आया है। पहले आस्था और समुदाय साथ चलते थे जो विभिन्न आस्थाओं और समुदायों से प्रत्यक्ष संवाद करते हुए चलते थे। अब की तीर्थ यात्राओं में अधिकाशंतः व्यक्ति और परिवार साथ चलते हैं और अपने से ही संवाद कर रहे होते हैं। भारत में अब भी सामूहिक तीर्थ यात्रा भी होती है, परन्तु ऐसी तीर्थ यात्रायें भी धीरे–धीरे स्थानीय समूहों से कम ही रूबरू हो पाती हैं। इसका कारण दोनों समूहों की तीव्र गति का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जीवन भी है जहाँ एक दूसरे के लिए समय नहीं है। आज तीर्थ यात्राओं का प्रबंधन इतना अधिक थर्ड पार्टी और वर्चुअल स्पेस पर निर्भर होता जा रहा है कि हम बेगाने होकर तीर्थ यात्राओं पर जाते हैं और उसी बेगानेपन में तीर्थयात्रा से लौट आते हैं। जनपुंज समाजों (मास सोसाइटी) में तीर्थ यात्राओं से सबसे अधिक लाभ बाजार को होता है।[63]

रेलों ने (बृहद् संदर्भ में संचार माध्यमों ने) जैसा कि गाँधी मानते हैं भारत को एक राष्ट्र नहीं बनाया बल्कि अलग–अलग राष्ट्र होने का बोध कराया। यह बोध रेलों ने उस सभ्यता का भारतीयों में बीज बोकर किया जिसके वे स्वयं उत्पाद थे। यह दुराव और विभेद वाली आधुनिक सभ्यता थी। पहले लोग जो आधुनिक सभ्यता में रंगे और स्वयं को सभ्य मानने लगे उन्हें भारत में अलग–अलग राष्ट्र दिखाई पड़ने लगे और फिर उन्हीं लोगों ने कहना शुरू किया कि रेलों ने भारत को एक राष्ट्र बना दिया है। राष्ट्र को परिभाषित करते हुए गाँधी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि किसी मुल्क में जो दूसरे लोग दाखिल होते हैं वे उसकी प्रजा को तोड़ न सकें अपितु उन्हीं में घुल–मिल जायें तब कोई मुल्क राष्ट्र बनता है।[65] वे यह भी कहते हैं कि एक राष्ट्र होकर रहने वाले लोग एक दूसरे के धर्म में दखल नहीं देते हैं। अगर वे ऐसा करते हैं तो एक राष्ट्र होने लायक नहीं हैं। भारत के संदर्भ में गाँधी कहते हैं कि बाहर से आने वाले लोग हिन्दुस्तान की प्रजा को तोड़ नहीं पाये बल्कि उन्हीं में घुल–मिल गये। इस कारण हिन्दुस्तान एक राष्ट्र था, आज भी है और आगे भी रहेगा। यह देश उन सभी लोगों का है जो यहाँ इसे अपना वतन मानकर बस गये हैं और 'एक दूसरे के स्वार्थ' के लिए भी एक होकर रहते हैं।[66] एक दूसरे के स्वार्थ के लिए भी एक होकर रहना यह राष्ट्र के संदर्भ में गाँधी की ऐसी अभिव्यक्ति है जो सभी प्रकार के राष्ट्र और राष्ट्रवाद के मूल में पायी जाती है। गाँधी 1909 में ही सूरत विच्छेद को एक ऐसी घटना के रूप में देखते हैं जो भारत की राष्ट्रवादी चेतना में दरार उत्पन्न करने वाली घटना थी। ठीक वैसी ही घटना जैसी बंग–भंग से उत्पन्न चेतना ने अंग्रेजी जहाज में दरार उत्पन्न कर दिया था।[67] आगे चलकर जब हिन्दू महासभा, मुस्मिल लीग, डिप्रेस्ड क्लास ऐसोसिएशन बनने लगे तब इन संगठनों ने अपने–अपने समूहों के कल्याण और उत्थान के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। परन्तु, इस संगठनों ने अखिल भारतीय उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवादी चेतना में दरार उत्पन्न नहीं किया, ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वस्तुतः जब महात्मा गाँधी दक्षिण अफ्रीका से लौटकर भारत आ गये, उस समय और बाद में भारत में भी अनेक प्रवृत्तियाँ सक्रिय थीं। उन प्रवृत्तियों को समझे बिना न तो भारतीय राष्ट्रवाद को समझा जा सकता है और न ही उसमें गाँधी की भूमिका का विश्लेषण किया जा सकता है। 1914 में दक्षिण भारत में द्रविड़ संघ की स्थापना हो चुकी थी, जिसका उद्देश्य गैर ब्राह्मणों के हितों को सुरक्षित करना था। इसी संगठन से 1916 में साउथ इंडियन लिबरल फेडरेशन बना जो अंग्रेजी राज के भीतर एक द्रविड़ राज्य के निर्माण का समर्थक था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जिस आर्य मिथक के प्रति सावरकर महान गौरव बोध से अभिभूत होते रहे हैं उसे ही द्रविड़ आन्दोलनों ने चुनौती दी है और आर्य शब्द को घृणास्पद बनाकर प्रस्तुत किया है।[69] यही नहीं द्रविड़नाडु की माँग करने वाले लोगों के एक समूह ने भारत की स्वतंत्रता पर काला दिवस भी मनाया था। पंजाब की स्थिति भी क्षेत्रवादी और जातिवादी तथा धार्मिक विद्वेष से पटी हुई थी। शहरी हिन्दू व्यापारी वर्ग और ग्रामीण मुस्लिम भू–स्वामी के बीच सिख खेतिहर वर्ग के हित विभाजित थे।[70] इस विभाजन का प्रयोग अंग्रेज तथा उनके समर्थक समूह राष्ट्रवादी चेतना के विरूद्ध कर रहे थे। भाषा के आधार पर भी यह एक ऐसा क्षेत्र था जहाँ गुरूमुखी, देवनागरी और अरबी का विवाद था। इसी तरह भारत के प्रायः सभी महान जनजातीय विद्रोहों में अंग्रेजों के साथ–साथ स्थानीय भारतीय जमींदार डीकू (शोषक) भी निशाने पर थे। महाराष्ट्र और देश के अन्य क्षेत्रों में अस्पृश्यता एक भयंकर रोग की तरह फैला हुआ था। परन्तु, जो उच्च जातियाँ अस्पृश्यता का व्यवहार करती थीं वे सामाजिक संस्तरण में ऊँची होने के कारण और अपनी आर्थिक समृद्धि के कारण ब्रिटिश जाति के सीधे सम्पर्क में थीं। बहुत हद तक भारत में ब्रिटिश शासन के संचालन में उनकी अहम भागीदार भी थी। इस जातीय विभाजन को भारत में अंग्रेजी हुकूमत ने वास्तव में अपना ढाल बना लिया था। इस ढाल को भूसामन्त प्रथा और भी मजबूती प्रदान कर रही थी, क्योंकि लगान की वसूली जिन भूसामन्तों के द्वारा होती थी वे अधिकांशतः भारतीय ही थे और वही शोषण के प्रत्यक्ष कारण के रूप में पहचाने भी जा सकते थे। ऐसी स्थिति में गाँधी को एक ऐसे भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का संचालन करना था जिसमें आम जनता का मध्यवर्ती भारतीय शोषकों के प्रति आक्रोश को ब्रिटिश शासन के विरूद्ध परावर्तित कर दिया जाय। परन्तु, यह भी जरूरी था कि मध्यवर्ती शोषण, अन्याय आदि को भी जो कि प्रायः जातिगत रूढ़ियों और धार्मिक अंधविश्वासों और भू–सामन्ती संबंधों पर आधारित थे उन्हें भी दूर किया जाय।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

गाँधी के नेतृत्व में चार लड़ाईयाँ एक साथ लड़ी जा रही थी। प्रथम, उपनिवेशवाद के खिलाफ। द्वितीय, सामन्तवाद के खिलाफ। तृतीय, अंध विश्वास और कुरीतियों के खिलाफ और चतुर्थ एक समूह के दूसरे समूह के प्रति विद्वेष के खिलाफ। समग्र रूप से यह चारों संघर्ष एक ही प्रवृत्ति के विरूद्ध संघर्ष थे जो अलग–अलग तरह से व्यक्त हो रहे थे। वह प्रवृत्ति थी, हिंसा की प्रवृत्ति। चाहे वह उपनिवेशवाद हो, सामंतवाद हो, जातीय विद्वेष हो या साम्प्रदायिक विद्वेष हो – सबके मूल में हिंसा होती है। हिंसा से हिंसा का उपचार और भी बड़ी हिंसा को जन्म देता है। गाँधी ने इस तथ्य को प्रथम विश्वयुद्ध और बोल्शेविक क्रान्ति से ही नहीं समझा था बल्कि इसको उन्होंने औपनिषदिक साहित्य से भी समझा था। इसीलिए गाँधी ने हिंसा को सबसे पहले व्यक्ति के व्यक्तित्व से निकालने का प्रयत्न किया। इस दृष्टि से गाँधी को जिस राष्ट्रवाद का प्रतिनिधित्व करना था और जिस राष्ट्रीय आंदोलन का संचालन करना था वह धरती के किसी भाग की अपेक्षा सबसे पहले व्यक्ति के भीतर ही सम्पन्न होना था। गाँधी जिस श्रीमद्भगवद्गीता को गीता माता कहते थे उसकी भी यही दृष्टि है– इदं शरीरं कौन्तेय, क्षेत्रमित्यमिधीयते, एतद्योवेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः। जब अद्वैत सिद्धि (ब्रह्मज्ञान) के लिए शरीर और चित्त की शुद्धि आवश्यक है, जब महाभारत युद्ध के लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है, तब वह भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के लिए आवश्यक क्यों नहीं है? बल्कि अधिक आवश्यक है, खासकर तब जब युद्ध अंग्रेज प्रवृत्ति (आधुनिकता) के विरूद्ध लड़ा जाना है और जो स्वयं अपने विरूद्ध ही अधिक और दूसरे के विरूद्ध कम है। इस स्थिति में हिंसा का प्रयोग अपने ही विरूद्ध कैसे किया जा सकता था। इस हेतु गाँधी ने अहिसंक, सत्याग्रही राष्ट्रवाद का सूत्रपात किया। इस राष्ट्रवाद में किसी दूसरे समुदाय या राष्ट्र का दमन नहीं था बल्कि यह मानवतावादी राष्ट्रवाद था। द्वितीय, गोलमेज सम्मेलन के समय गाँधी का ब्रिटेन के उन मिल मजदूरों के बीच जाकर रहना जिनको असहयोग आंदोलन के बहिष्कार कार्यक्रम के कारण भारी नुकसान हुआ था, इसी तथ्य को पुष्ट करता है।[72] गाँधी ने इसके लिए जो मार्ग अपनाया उसने एक सर्वथा नवीन और भारतीय तथा वैदान्तिक राष्ट्रवाद को जन्म दिया और जिसे सिर्फ अद्वैतवादी राष्ट्रवाद के नाम से ही अभिहित किया जाना समीचीन है।

गाँधीजी भारतीय राष्ट्रवाद के निर्वैर स्वरूप को अपने अनेक भाषणों एवं लेखों में उधृत करते रहे हैं। इसका दोहरा उद्देश्य रहा है। प्रथम, यह कि भारतीय राष्ट्रवाद में भारत की सभी जातियों और धर्मों की समान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भागीदारी है और यह राष्ट्रवाद किसी भी भारतीय समूह के प्रति आग्रही या विद्वेषी नहीं है। द्वितीय, यह कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन मात्र भारत की मुक्ति का ही आंदोलन नहीं है बल्कि यह मानवता की मुक्ति की आंदोलन है। यंग इंडिया में गाँधी जी ने लिखा है कि हमारा राष्ट्रवाद किसी के लिए भी हानिकर नहीं हैं, क्योंकि हम किसी का शोषण नहीं करना चाहते हैं; ठीक वैसे ही जैसे हम नहीं चाहते हैं कि कोई हमारा शोषण करे। स्वराज के जरीये हम पूरी मानवता (वर्ल्ड) की सेवा करना चाहते हैं।[73] इस लेख के एक दशक पूर्व गाँधी जी ने लिखा था कि मेरे लिए देशभक्ति और मानवता एक ही चीज है। मैं देशभक्त इसलिए हूँ कि मैं मानव हूँ। मानव होने के नाते मैं इंग्लैण्ड या जर्मनी को नुकसान नहीं पहुँचा सकता।[74] महात्मा गाँधी ने टैगोर एवं अरविंद की ही तरह एक विशेष प्रकार के राष्ट्रवाद को मानवता और अन्तर्राष्ट्रवाद के लिए खतरा बताया है। यदि किसी देश में लोग स्वार्थी एवं संकीर्ण उद्देश्यों से एकजुट होकर व्यवहार करें तो इससे राष्ट्र का निर्माण नहीं हो जाता है। अधिकांश आधुनिक राष्ट्रों में इस बुराई को देखते हुए गाँधी यह सुनिश्चित करना चाहते हैं कि भारतीय राष्ट्रवाद एक अलग पथ पर चलेगा और इसी से उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति होगी और वह पथ है मानव मुक्ति का पथ।[75] महात्मा गाँधी के राष्ट्रवाद को साधारणतया राजनीतिक राष्ट्रवाद के संवर्ग में नहीं रखा जाता है। इसका कारण यह है कि वे राज्य की शक्ति की अपेक्षा व्यक्ति की आन्तरिक शक्ति को समाज का नियामक बनाना चाहते थे। उन्होंने किसी राजनीतिक संगठन की शक्ति को स्वराज्य का आधार नहीं बताया, बल्कि यह कहा कि स्वराज्य निर्भर करता है हमारी आन्तरिक शक्ति पर, बड़ी से बड़ी कठिनाइयों से जूझने की हमारी ताकत पर।[76] गाँधी के राष्ट्रवाद में राज्यसत्ता के स्थान पर लोकसत्ता की प्रधानता है। इसका कारण यह नहीं है कि गाँधी लोकसत्ता या लोकनीति के द्वारा ब्रिटिश सत्ता और उसकी राजनीति को पराभूत करना चाहते थे, बल्कि लोकसत्ता और लोकनीति समाज की स्वतः स्फूर्त प्रेरणा से उत्पन्न होती है और उसमें अहिंसा को प्रतिष्ठित करने की संभावना अधिक होती है। जबकि राज्य एक संगठित और घनीभूत हिंसा का आत्मा रहित मशीन है वहीं मनुष्य एक आत्मायुक्त प्राणी है। राज्य के पास जितनी अधिक शक्ति केन्द्रित होगी वह मनुष्य की आत्मा पर उतनी ही अधिक बोझ उत्पन्न करेगी और वह व्यक्ति से उतना ही अधिक समर्पण की माँग करेगी। राज्य जिस केन्द्रीकृत शक्ति का प्रतीक है वह हिंसात्मक शक्ति के बिना जीवित नहीं रह सकता है और यह हिंसात्मक शक्ति एक अहिंसक समाज के लिए और उसकी सामाजिक संरचना के लिए एक विसंगति है।[77]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

एक अहिंसक समाज और अहिंसक राष्ट्र ही मानवता के आदर्श का वाहक हो सकता है। अहिंसक समाज का आदर्श कांट और मैक्स वेबर का भी आदर्श है। यही आदर्श हन्ना आरेंट एवं मैक्फर्सन का तथा राल्स और वाल्जर का भी है। किन्तु, इनमें से किसी ने हिंसा की पहचान आधुनिकता और केन्द्रीकृत मशीनी उत्पादन पद्धति में नहीं किया है। मार्क्स ने जरूर ऐसी कोशिश की, परन्तु वे उत्पादन संबंधों के बदलाव से हिंसा को दूर करने के भ्रम से कभी मुक्त नहीं हो पाये। जबकि हिंसा अपनी हदों को पार करने से शुरू होती है। अपने प्रति हिंसा किए बिना कोई भी दूसरे के प्रति हिंसा नहीं कर सकता है। आधुनिकता व्यक्ति को निरन्तर उसकी हदों को पार करने की न केवल प्रेरणा और शिक्षा देती है बल्कि–अवसर भी उपलब्ध कराती है। यह औद्योगिक सभ्यता की प्रेरणा और शिक्षा है। इस प्रेरणा और शिक्षा से मुक्त हुए बिना भारत एक राष्ट्र के रूप में अंग्रेजों से स्वतंत्र तो हो सकता था किन्तु, वह कभी भी अंग्रेजियत से मुक्त नहीं हो सकता था और नहीं आज तक हुआ है। गाँधी के राष्ट्रवाद की संकल्पना भारत को अंग्रेजों एवं अंग्रेजियत दोनों से मुक्त कराना चाहती थी। गाँधी ने भारत के राष्ट्रीय आंदोलन को आधुनिकता से पीड़ित मानव–जाति का आंदोलन बनाया था। टैगोर के लिए राष्ट्रवाद यदि मानवता है, अरविंद के लिए धर्म है तो गाँधी के लिए राष्ट्रवाद यज्ञ है। यह गाँधी का राष्ट्रीय यज्ञ ही था जिसने टैगोर की मानवतावादी चेतना और अरविंद की योग साधना को यज्ञ की आहुति बनाया। यज्ञ को परिभाषित करते हुए गाँधी लिखते हैं कि यज्ञ उन कर्मों का द्योतक है जो बिना किसी स्वार्थ–लिप्सा के दूसरों के कल्याण के लिए बिना किसी प्रति–प्राप्ति की उद्देश्य कामना से रहित होकर किया जाता है।[78] भारत तो स्वतंत्र हो गया किन्तु इस स्वतंत्रता ने भारत की एकता और गाँधी दोनों की बलि ले ली। हर दिन लाखों लोग दुनिया में हिंसा, प्रदूषण, बेरोजगारी, कुंठा, अपराध, दुघर्टना, कुपोषण आदि के कारण मर रहे हैं। सड़कें चिकनी, गाँव रोशन और पहाड़ समतल होते जा रहे हैं। पीने का पानी और श्वास लेने की वायु चुकते जा रहे हैं। अब आने वाली पीढ़ियों को देखना होगा कि क्या कोई गोडसे इन सभी समस्याओं के विरूद्ध संघर्ष करने के लिए और मानवता को बचाने के लिए सामने आता है या गाँधी को पुनः आना होगा। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या जब बिना किसी स्वार्थपरता के और बिना किसी प्रति–प्राप्ति की इच्छा से दूसरों के कल्याण के लिए किया गया कर्म यज्ञ है, तब गाँधी के राष्ट्रीय आंदोलन में स्वतंत्रता प्राप्ति का स्वार्थ नहीं था? दूसरा प्रश्न यह किया जा सकता है कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यज्ञ की यह परिभाषा स्वयं गाँधी के मस्तिष्क की उपज है या इसको सनातन आर्ष ग्रंथों से भी पुष्ट किया जा सकता है? प्रथम प्रश्न का उत्तर यह है कि गाँधी के राष्ट्रीय आंदोलन का दर्शन जितना भारत की मुक्ति से जुड़ा हुआ है उतना ही ब्रिटेन की मुक्ति से भी संबंधित है। भारत के शरीर को स्वतंत्र होना है और ब्रिटेन के मन को आजाद होना है। इस संदर्भ को मार्क्स और नौरोजी के संयुक्तवाचन से भी समझा जा सकता है। बेगानगी की व्याख्या करते हुए मार्क्स पूँजीपतियों को मुद्रा की तानाशाही का गुलाम बताते हैं। यह मुद्रा की तानाशाही ही है जो भारत में नौरोजी की रचना 'पावर्टी एण्ड 'अन ब्रिटिश' रूल इन इंडिया' में अनब्रिटिश है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आधुनिकता, उपभोक्तावाद और लोभ ने ब्रिटिश चरित्र का नाश कर दिया है। गाँधी उसी नष्ट हुए ब्रिटिश चरित्र की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए ब्रिटेन को भारत में ही नहीं अपितु दुनियाभर से अपने उपनिवेश को समाप्त करने की सलाह देते हैं। अब दूसरे प्रश्न पर लौटकर आते हैं। भगवान कृष्ण कहते हैं कि– एवं बहुविधायज्ञा वितता ब्रह्मणोमुखे, कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे। अब इन बहुत प्रकार के यज्ञों में श्रेष्ठ यज्ञ कौन– सा है। इसका उत्तर देते हुए भगवान कृष्ण कहते हैं कि– यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरूतेऽर्जुन, ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मात्कुरूते तथा।[80] अभी भी एक प्रश्न शेष रह जाता है कि वह ज्ञान यज्ञरूपी श्रेष्ठ यज्ञ क्या है और वह गाँधी के कामना रहित दूसरों की सेवा से कैसे जुड़ता है। यहाँ भगवान का अन्तिम उत्तर प्रस्तुत है। वे कहते हैं कि– कर्मणो ह्यापि बोधव्यं बोधब्यं च विकर्मणः, अकर्मणच्च बोधव्यं गहना कमर्णो गतिः।[81] यहाँ कर्मों में अकर्मणता देखने का जो निर्देश है वही गाँधी के कामना रहित दूसरों की सेवा का भाव है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बाल गंगाधर तिलक ने महात्मा गाँधी के भारतीय राजनीति में सक्रिय होने से पूर्व ही माण्डले (अब के म्यामार में) जेल में रहते हुए अभूतपूर्व मेधा से गीता पर गीता रहस्य नाम से भाष्य लिखा था। इस भाष्य का उपशीर्षक कर्मयोगशास्त्र है। ग्रन्थ का समापन करते हुए तिलक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्रीमद्‌भगवद् गीता में ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की प्रधानता है।[82] बाल गंगाधर तिलक की यह विवेचना ही सावरकर के हिन्दुत्व का दार्शनिक आधार है और औपनिवेशिक भारत तथा औपनिवेशिकोत्तर भारत में भारतीय राष्ट्रवाद की एक धारा का प्रतिनिधित्व करता है। परन्तु, इस धारा में विमर्श बनने लायक लेखन कम हुआ है और राजनीतिक उद्वेग उत्पन्न करने का उपक्रम अधिक हुआ है। इसका कारण यह है कि इस धारा ने तिलक के गीता रहस्य से हिंसा के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

समर्थन का बीज तो निकाल लिया किन्तु उस बीज को फलने–फूलने का आत्मशुद्धि वाला जमीन छोड़ दिया। भक्ति की दृष्टि से अर्जुन भी कृष्ण भक्त है और कर्ण भी कृष्ण भक्त है, परन्तु गीता का ज्ञान अर्जुन के पास है। इसीलिए अर्जुन विजयी और कर्ण पराभूत हुआ है। महात्मा गाँधी ने तिलक के गीता रहस्य को सम्पूर्णता में लिया है और कर्मयोगी की भाँति भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का संचालन किया है।

महात्मा गाँधी के अद्वैतवादी राष्ट्रवाद को समझने के लिए यह समझना भी जरूरी है कि उन्होंने अनेक संदर्भों एवं अनेक स्तरों पर विभाजित भारतीयों के मध्य एकता के सूत्रों को एकत्रित करने के लिए जो पहल किया उसमें मुद्दों से पहले मूल्य क्यों है, और क्यों वे सबसे सफल संगठनकर्ता के रूप में स्थापित हुए? इसका कारण एक ही है, परन्तु वह दो तरह से अभिव्यक्त हुआ है। उनमें से प्रथम यह है कि गाँधी की अद्वैत दृष्टि को यह समझ है कि मुद्दों के आधार पर भारत में भले ही विभाजन है परन्तु मूल्यों के आधार पर एकता है। किसान, मजदूर, स्त्री–पुरूष, उदारवादी, अतिवादी, वामपंथी, दक्षिणपंथी और क्रान्तिधर्मी मुद्दों के आधार पर विभाजित हो सकते हैं परन्तु इससे सत्य, करूणा, न्याय, मानवीय गरिमा आदि का मूल्य कम नहीं हो सकता है। गाँधी ने इन्हीं मूल्यों को मुद्दा बना दिया। द्वितीय, यह कि गाँधी मानवतावादी आंदोलन का सफल संचालन करके भारत लौटे थे। गाँधी दक्षिण अफ्रीका में किसी स्वतंत्रता आंदोलन का नेतृत्व नहीं कर रहे थे अपितु मानवता के प्रति निषिद्ध नीतियों की खिलाफत कर रहे थे। फलतः जब वे भारत लौटे तब वे पहले मानवतावादी, फिर भारतीय और तब जाकर गुजराती और अंत में काठियावाड़ी थे। इसके विपरीत सावरकर, तिलक, रानाड़े गोखले, सुभाष, भगत सिंह आदि पहले क्षेत्र विशेष तब भारतीय और अंत में मानवतावादी थे। कुछ लोग तो पहले जाति फिर क्षेत्र और अंत में भारतीय थे। या, कुछ लोग सिर्फ भारतीय या सिर्फ मानवतावादी थे। इसका परिणाम यह हुआ कि गाँधी ने उपनिवेशवादी शोषण और सामंतवादी शोषण को क्षेत्र और जाति की समस्या के बजाय मानवता की समस्या के रूप में उपस्थित किया और अपने संघर्ष को जाति एवं क्षेत्र की सीमा में बंधने नहीं दिया। यही उनकी सफलता का आधार और यही सर्वात्मवादी राष्ट्रवाद की पुनःप्रर्तिष्ठा थी। गाँधी का यह सर्वात्मवादी राष्ट्रवाद एक नैतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा की रूपरेखा प्रस्तुत करती है। यह कांट के कैटेगोरिकल इम्प्रेटिव (कर्त्तव्य का अटल आदेश) की दृष्टि से भी नैतिक है और हैबरमास के डिस्कोर्स एथिक्स (विमर्शीय नैतिकता) की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दृष्टि से भी नैतिक है। कांट ने क्रिटिक आफ प्रैक्टिकल रीजन में निरेपक्ष नैतिकता का केवल एक सूत्र प्रस्तावित किया है और ग्राउण्डवर्क ऑफ द मेटाफिजिक्स ऑफ मॉरल्स में उसका पाँच सूत्रों में विस्तार किया है। जिसका सार यह है कि मनुष्य को उन विवेकपूर्ण एवं सार्वभौम अनुशास्तियों के तहत आचरण करना चाहिए। ताकि मनुष्य के स्वयं अपने व्यक्ति में चिह्नित मानवता और दूसरे व्यक्तियों के व्यक्तित्व में निहित मानवता को साधन के बजाय साध्य समझा गया हो। इसीलिए कांट के निरपेक्ष आदेश की अंतिम परिणति उसके चिन्तन में 'होली विल' में होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य के लिए अपने हेतु नैतिक नियम और सभी के लिए नैतिक नियम एक ही प्रकार के होने चाहिए। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में और विशेषकर उग्र राष्ट्रवाद के समर्थक जो हिंसा का सहारा लेना चाहते हैं, वे जिस तरह हिंसा को अपने लिए नैतिक नियम बनाते हैं उसी तरह दूसरों की हिंसा का भी समर्थन नहीं कर सकते हैं। इसी कारण हिंसा एक नैतिक नियम नहीं बन सकती है।

गाँधी के राष्ट्रवाद में उक्त दृष्टि से मानवतावाद एवं अहिंसा ऐसी ही नैतिक अनुशास्ति है। यह अनुशास्ति नृजातीय राष्ट्रवाद और सैन्य प्रवृत्ति वाले राष्ट्रवाद में कभी हो नहीं सकती। क्योंकि वे रैशनल और यूनिवर्सल नियम नहीं बन सकते हैं। सावरकर जिस मिलिटैंट नेशनलिज्म के नियम को अपने हिन्दुत्व में बढ़ावा देना चाहते हैं, यदि उसे नैतिक नियम बनाया जाय तो फिर हिंसा और मृत्यु को उत्सव की तरह रूपान्तरित करना होगा। जबकि, महात्मा गाँधी के राष्ट्रवाद में जो एक राष्ट्र के लिए नैतिक है वही सभी राष्ट्रों के लिए नैतिक है और जो सभी राष्ट्रों के लिए नैतिक है, वही एक राष्ट्र के लिए भी नैतिक है। कांट की नीतिशास्त्रीय दृष्टि से गाँधी के राष्ट्रवाद की समीक्षा के बाद अब हैबरमास की विमर्शीय नैतिकता के परिप्रेक्ष्य में भी गाँधी के राष्ट्रवाद को समझना समुचित होगा। हैबरमास अपनी पुस्तक 'बिटिविन फैक्ट्स एण्ड नार्म्स में विमर्शीय नैतिकता का प्रतिपादन कांट से असहमति दर्शाते हुए करते हैं।[86] इस रचना में वे अपनी एक दूसरी रचना 'मॉरल कांससनेश एण्ड कम्प्यूनिकेटिव एक्शन' के तर्कों का भी सहारा लेते हैं।[87] वे जानना चाहते हैं कि विमर्श निर्माण की किस पद्धति से उस नैतिकता का जन्म हुआ है जिसमें लोग सहभागी हैं। क्योंकि, किसी भी नैतिकता को वैधता विमर्शों में सहभागिता कर रहे लोगों से ही मिलती है। महात्मा गाँधी का राष्ट्रवाद विमर्शीय नैतिकता के अवकाश हेतु सत्याग्रह का प्रस्ताव करता है। स्वयं सत्याग्रह भी डिस्कोर्स की वैधता का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

परख करने के लिए सतत संवाद का भी प्रस्ताव है। परन्तु, एक तो समाज में हर समय अनेक विमर्श होते हैं और उन विमर्शों के सहभागी कर्ता भी अलग–अलग हितों के साथ अलग–अलग विमर्शों के सहभागी होते हैं। ऐसी स्थिति में एक व्यक्ति के एक विमर्श में सहमति और दूसरे विमर्श में असहमति का अलग–अलग कुल योग किसी सर्वसम्मत वैधता तक नहीं पहुँचते हैं। प्रत्येक राष्ट्र में राष्ट्रवाद इसी स्थिति में पहले भी जूझ रहा था और आज भी जूझ रहा है। परन्तु, यह निरपेक्ष नैतिकता के महत्त्व को कम नहीं कर देता है, क्योंकि मानव में मानवता को विमर्शीय सत्यापन की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस विमर्श की है कि मनुष्य पशु क्यों बनता जा रहा है ? भारत को पशुबल के प्रयोग से आजादी नहीं मिली, परन्तु भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में गाँधी–विमर्श के अतिरिक्त दूसरे विमर्श भी सक्रिय थे। गाँधी–विमर्श की वैधता ने भारत को आजाद कराने में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। इसमें दूसरे विमर्श भी सहभागी बने।

राजनीतिशास्त्र विभाग
आर्य महिला पी.जी. कॉलेज (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)
चेतगंज, वाराणसी (उ.प्र.) 221002

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *यहाँ पराभूत कहने का आशय यह है कि पश्चिम में राष्ट्रवाद और मानवतावाद को दर्शन एक साथ विकसित हो रहा था। परन्तु पश्चिम के राष्ट्रवाद ने पूँजीवादी विस्तारवाद और धार्मिक प्रसारवाद के मार्ग को अपनाया और मानवतावाद को अलग–थलग छोड़ दिया।*
2. *मानव की क्षमता एवं गरिमा में विश्वास उदारवादी दर्शन की प्रमुख विशेषता है। लॉक और कांट इस विचार के मुख्य प्रतिपादक हैं। टैगोर, अरविन्द और गाँधी तो लॉक और कांट की अपेक्षा मानव क्षमता में अधिक विश्वास रखते हैं, ऐसा कहने के दो आधार है। प्रथम, लॉक और कांट दोनों ही उदीयमान पूँजीवाद के यद्‌भाव्यम (लेसेज फेयर) को ध्यान में रखकर मानव क्षमता एवं गरिमा का सूत्रीकरण कर रहे हैं जिसमें अंततः व्यक्ति को एक यन्त्र ही बनना है। द्वितीय, दोनों के चिन्तन में व्यक्ति एकाकी प्राणी है। इसके विपरीत टैगोर, अरविन्द और गाँधी के चिन्तन में व्यक्ति सामाजिक सरोकारों वाला प्राणी है, वह अकेला नहीं है।*
3. *पाम्पिलियस का इटली के इतिहास में वीरभाव से इटली को राष्ट्र बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान है। मैकियावेली के द प्रिंस को इस नायक की भूमिका के आलोक में भी देखा जा सकता है।*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

4. नृजातीयता, भाषा, जाति, धर्म आदि सभी मानवता के विकास में सहायक रहे हैं परन्तु आज के परिवेश में यह सब निहित स्वार्थ और संकुचित पहचान के प्रतीक बनते जा रहे हैं।
5. कैटलिन, जी.इ.जी. रविन्द्रनाथ टैगोर', जर्नल ऑफ रॉयल सोसाइटी ऑफ आर्ट्स, भाग–109, अंक– 5060, जुलाई, 1961, पृ. 921.
6. टैगोर, रविन्द्रनाथ. गीतांजली, अनुवादक–शकुन्तला मिश्र, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2013, पृ. 35
7. टैगोर,रविन्द्रनाथ. गोरा, अनुवादक– सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, नई दिल्ली:साहित्य अकादमी, 1986,पृ.132–133
8. वही.
9. वही.
10. वही.
11. जनगणमन–अधिनायक जय हे भारत भाग्य विधाता!
पंजाब सिन्धु गुजरात मराठा द्राविड़ उत्कल बंग
विन्ध्य हिमाचल यमुना गंगा उच्छल जलधि तरंग
तव शुभ नामे जागे, तव शुभ आशीष मांगे,
गाहे तव जयगाथा।
जनगण मंगलदायक जय हे भारत भाग्य विधाता!
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय जय हे।।

अहरह तव आह्वान प्रचारित, शुनि तव उदार बाणी
हिन्दु बौद्ध शिख जैन पारसिक मुसलमान खृष्टानी
पूरब पश्चिम आसे तव सिंहासन–पाशे
प्रेमहार हय गाथा।
जनगण–ऐक्य–विधायक जय हे भारत भाग्य विधाता!
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय जय हे।।

पतन–अभ्युदय–वन्धुर पन्था, युग युग धावित यात्री।
हे चिरसारथि, तव रथचक्रे मुखरित पथ दिनरात्रि।
दारुण विप्लव–माझे तव शंखध्वनि बाजे
संकटदुःखत्राता।

जन गण पथ परिचायक जय हे भारत भाग्य विधाता!
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय जय हे।।
घोरतिमिरघन निविड़ निशीथे पीड़ित मूर्छित देशे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जाग्रत छिल तव अविचल मंगल नतनयने अनिमेषे।
दुःस्वप्ने आतंके रक्षा करिले अंके
स्नेहमयी तुमि माता।

जनगणदुःखत्रायक जय हे भारत भाग्य विधाता!
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय जय हे।।
रात्रि प्रभातिल, उदिल रविच्छवि पूर्व–उदयगिरिभाले,
गाहे विहंगम, पुण्य समीरण नवजीवनरस ढाले।
तव करुणारुणरागे निद्रित भारत जागे
तव चरणे नत माथा।
जय जय जय हे जय राजेश्वर भारत भाग्य विधाता!
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय जय हे।।

12. टैगोर, रविन्द्रनाथ. नेशनलिज्म इन जापान, अन्तर्गत आमनिबस, भाग–3, नई दिल्लीः रूपा पब्लिकेशन्स, 2005, पृ. 3–4
13. वही, पृ. 20–21
14. टैगोर, रविन्द्रनाथ. नेशनलिज्म इन द वेस्ट, वही, पृ. 35
15. वही.
16. वही, पृ. 36
17. वही.
18. लिराय ए. कूपर, "हन्ना आरेन्ट्स पॉलिटिकल फिलॉसफी : ऐन इन्टरप्रेटेशन", द रिव्यु ऑफ पालिटिक्स, भाग–38, अंक–2, अप्रैल, 1976, पृ. 138–141
19. ऑकशाट, माइकल. रैशनलिज्म इन पॉलिटिक्स एण्ड अदर एसेज, लन्दन : मैथ्युन, 1962, पृ. 62
20. क्लार्क, माइकल. एवं टीलमैन, रिक. "सी.वी. मक्कर्सन्स कन्ट्रीब्यूशन्स टू डेमोक्रेटिक थ्योरी", जर्नल ऑफ इकोनॉमिक इशुज, भाग–22, अंक–1, मार्च, 1988, पृ. 182–184
21. टैगोर, रविन्द्रनाथ. नेशनलिज्म इन द वेस्ट, वही, पृ. 37
22. वही, पृ. 40
23. वही, पृ. 40
24. भट्टाचार्या, के.सी. "स्वराज इन आइडियाज", अनुवादक– प्रतापचंद्र, परामर्श, वर्ष–5, अंक–4, 1984
25. टैगोर, रविन्द्रनाथ. नेशनलिज्म इन द वेस्ट, वही, पृ. 41
26. वही, पृ. 59
27. वही, पृ. 60
28. वही, पृ. 65
29. वही, पृ. 67

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

30. नंदी, आशीष "नेशनलिज्म, स्पुरियस", अकेजन : इन्टरडिसिप्लीनरी स्टडीज इन द ह्युमनिटीज, भाग–3, मार्च 2012, पृ. 2
31. सेन, अमर्त्य, "इज नेशनलिज्म ए बुन ऑर क्रस", इकोनामिक एण्ड पॉलिटकल विकली, भाग–43, अंक–7, फरवरी, 2008, पृ. 16–22
32. घोष, अरविंद. 'हू', कलेक्टेड पोयेम्स, पांडिचेरी : श्री अरविंदो आश्रम पब्लिकेशन, 2009, पृ. 201
33. घोष, अरविंद. 'टू द गैंगेज', वही, पृ. 256–259
34. घोष, अरविंद. 'इन द मून लाइट', वही, पृ. 239–240
35. घोष, अरविंद. द आईडियल ऑफ ह्यूमन यूनिटी, पांडिचेरी : श्री अरविंदो आश्रम पब्लिकेशन, 1919, पृ. 2–4
36. वही, पृ. 3
37. घोष, अरविंद. 'द सिंबल डाउन', सावित्री, पांडिचेरीः श्री अरविंदो आश्रम पब्लिकेशन्स, 1950, पृ. 1
38. घोष, अरविंद. द आईडियल ऑफ ह्यूमन यूनिटी, वही, पृ. 8
39. वही.
40. वही.
41. वही.
42. वही, पृ. 13–16
43. इस अन्तर्विरोध के दो कारण दिखाई पड़ते हैं। प्रथम, हीगल सृष्टि के विकास क्रम में मनुष्य के आगमन के पूर्व के विकास क्रम को अचेतन मानते हैं। इसी तरह मार्क्स पूँजीवाद के पूर्व को विकास को अचेतन मानते हैं। विकासक्रम की ऐसी विवेचना विकास में उद्भूत एकरूपता की व्याख्या के लिए कुछ हद तक सही है, परन्तु विकास क्रम में उद्भूत विभिन्नता की व्याख्या के लिए यह सटीक नहीं हैं, क्योंकि भौतिक अभिव्यक्ति प्रायः वैविध्यपूर्ण नहीं होती है जबकि चैतन्य अभिव्यक्ति में विविधतायें अधिक होती हैं। द्वितीय, दोनों का ईश्वर बोध ईश्वर को संसार से बाहर रखने वाला ईश्वर बोध है। अतः वह ऐसा नियन्ता है जो अपने नियम बनाकर उससे निरपेक्ष हो गया है।
44. वही, पृ. 21
45. वही, पृ. 21–22
46. वही, पृ. 24
47. वही.
48. वही, पृ. 31
49. महापात्रा. डी.ए. एवं महापात्रा, डी.ए. "फ्रॉम नेशन स्टेट टू आइडियल ह्यूमन यूनिटी : ऐन एनालिटिकल डिस्कोर्स इन श्री अरविन्दोज पॉलिटिकल फिलॉसफी", द इन्डियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइन्स, भाग–65, अंक–2, अप्रैल–जून, 2004, पृ. 145–160

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

50. सिंह, कर्ण. प्रोफेट ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, मुम्बई : भारतीय विद्या भवन, 1991, पृ. 78
51. मोहन्ती, जे. एन. एशेज ऑन इंडियन फिलासफी, ट्रेडिशनल एण्ड मार्डन, नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1993,पृ.142.
52. घोष, अरविंद. द आईडियल ऑफ ह्यूमन यूनिटी, वही, पृ. 35–36
53. वही, पृ. 38
54. घोष, अरविंद. सावित्री, वही, यह उद्धरण सावित्री के आमुख से लिया गया है और उसकी मीमांसा की गई है।
55. चट्टोपाध्याय,बंकिमचन्द्र. आनन्दमठ, अनुवादक –अरविंद घोष, नई दिल्ली : अशीर प्रकाशन, 2010, पृ. 162
56. घोष, अरविंद. 'द रीटर्न टू अर्थ', सावित्री, वही, पृ. 724
57. मेकिन्टायर, ए. आफ्टर वर्च्यू, आफ्टर वर्च्यू : ए स्टडी इन मॉरल थ्योरी, इंडियाना : युनिवर्सिटी ऑफ नाट्रेडेम प्रेस, 1984
58. राधाकृष्णनन, एस. हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ, नई दिल्ली : हार्पर एण्ड कालिन्स पब्लिशर्स, 2018, पृ. 22
59. चट्टोपाध्याय, बंकिमचन्द्र. आनन्दमठ, अनुवादक –अरविंद घोष, नई दिल्ली : अशीर प्रकाशन, 2010. पृ. 160–161
60. 'द नार्थ इस्ट–कवर स्टोरी', इंडिया टूडे, दिसम्बर 21, 2015, उक्त उद्धरण उस ज्ञापन का अंश हैं, जिसे नगा समुदाय ने जनवरी, 1929 में साइमन कमीशन को दिया था।
61. गाँधी, मोहनदास करमचंद. हिन्द स्वराज, अनुवादक– अमृतलाल ठाकोरदास नाणावटी, अहमदाबाद : नव जीवन प्रकाशन मन्दिर, 2001, पृ. 27–28
62. वही, पृ. 29
63. इयान रीडर, पिलिग्रिमेज इन मार्केट प्लेस, न्यूयार्क : राउटलेज, 2014
64. गाँधी, मोहनदास. करमचंद. हिन्द स्वराज, वही, पृ. 29
65. वही, पृ. 31
66. वही.
67. वही, पृ. 8–9
68. कौशिक, सुशीला "क्षेत्रीय, भाषाई तथा जातीय संघर्षों का उदय और भारतीय राजनीति पर उसका प्रभाव", अन्तर्गत, भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद (सं.) डॉ. सत्या एम. राय, नई दिल्ली : हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, 2004, पृ. 520
69. वही, पृ. 522
70. वही, पृ. 523
71. श्रीमद्भगवतगीता, 11:1
72. कुलकर्णी, सुमित्रा. गांधी. महात्मा गांधी मेरे पितामह, भाग–2, नई दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, 2009, पृ. 151

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

73. गाँधी, मोहनदास करमचंद. यंग इंडिया, अप्रैल 16, 1931. पृ. 79
74. मोहनदास करमचंद गाँधी, यंग इंडिया, मार्च 16, 1921, पृ. 81.
75. मोहनदास करमचंद गाँधी, यंग इंडिया, मार्च, 18 जून 1925, पृ. 211.
76. गाँधी, मोहनदास करमचंद. मेरे सपनों का भारत, संग्राहक– आर. के. प्रभु, अहमदाबाद : नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, 1960, पृ. 8
77. गाँधी, मोहनदास. करमचंद. यंग इंडिया, 18, जनवरी 1942, पृ. 5
78. गाँधी, मोहनदास. करमचंद. ह्वाट इज हिन्दूइज्म, नई दिल्ली : नेशनल बुक ट्रस्ट, 1994, पृ. 48
79. श्रीमद्भगवद्गीता, 5:32
80. श्रीमद्भगवद्गीता, 4:37
81. श्रीमद्भगवद्गीता, 4:17
82. तिलक, बालगंगाधर. श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र, मुम्बई : रामचंद्र बलवंत तिलक–वैभव प्रेस, 1933, पृ. 848
83. बी.जी. भोसले, "इंडियन नेशनलिज्म : गाँधी वाइस–ए. वर्सा तिलक एण्ड सावरकर", द इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस, भाग–70, अंक–2, अप्रैल–जून, 2009, पृ. 419–421
84. कांट, इमेनुअल. क्रिटिक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन, अनुवादक– एल.डब्ल्यू बीक, न्यूयार्क : द लिबरल आर्ट प्रेस, 1956
85. कांट, इमेनुअल. फंडामेंटल प्रिंसिपल्स ऑफ द मेटाफिजिक्स ऑफ मॉरल्स, अनुवादक– टी.के. एबोट न्यूयार्क : प्राम्थस बुक्स, 1988
86. हैबरमास, जुर्गेन. बिटविन फैक्ट्स एण्ड नार्म्स, कैम्ब्रिजः एम.आई.टी. प्रेस, 1995
87. हैबरमास, जुर्गेन. मॉरल कन्सेशन्स एण्ड कम्यूनिकेटिव एक्शन, कैम्ब्रिज : एम.आई. टी. प्रेस, 1999

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उच्चतमदर्शन की खोज में

सच्चिदानन्द मिश्र

विचारों का सोपानीकरण एक विशिष्ट दार्शनिक पद्धति है। इसलिए दार्शनिकों में समस्त दर्शनों को एक क्रम में रखने की, सभी दर्शनों को एक सोपान क्रम में व्यवस्थित करने की अभिवृत्ति पायी जाती है। इस अभिवृत्ति के पीछे यह अवधारणा निहित है कि समस्त दर्शन एक ही स्तर के नहीं हैं। कुछ दर्शन बहुत ही प्राथमिक स्तर के हैं, तो कुछ अन्य दर्शन उससे ऊपर की भावभूमि पर स्थित हैं और कोई एक दर्शन उन सब दर्शनों से ऊपर अवस्थित है। वही दर्शन सर्वोच्च दर्शन है। प्रस्तुत आलेख में मेरा प्रयास इस अभिवृत्ति को समझने का एक प्रयास है, साथ–साथ हम यह भी देखने का प्रयास करेंगे कि ऐसी अभिवृत्ति किस सीमा तक युक्तियुक्त है।

पश्चिमी दर्शन परम्परा का सिंहावलोकन किया जाये तो वहाँ पर दर्शनों का विकास एक सोपान क्रम से होता है। उनमें एक दर्शन से ही दूसरा दर्शन निकलता है। आप देकार्त के बिना स्पिनोजा के दर्शन की कल्पना नहीं कर सकते, कांट के दर्शन की सम्भावना भी नहीं कर सकते, यदि उसके पहले ह्यूम का दर्शन न हो। वहाँ पर आने वाला हर दर्शन पुराने दर्शन को धराशायी करता हुआ ही जन्म लेता है। यह एक बहुत प्रसिद्ध उक्ति है कि पश्चिमी दर्शन प्लेटो के दर्शन पर आनुक्रमिक रूप से की गयी टिप्पणियाँ हैं। जब इस प्रकार से हम इन दर्शनों को एक अनुक्रम में, एक के बाद दूसरे को आता हुआ तथा पूर्व वाले दर्शन को खण्डित करते हुए देखते हैं, एक सहज ही विचारधारा इसी रूप में विकसित होती है कि परवर्ती दर्शन पूर्ववर्ती दर्शन की अपेक्षा अधिक संगत तथा युक्तियुक्त है; क्योंकि वह पूर्व वाले दर्शन को दृष्टि में रखते हुए ही प्रादुर्भूत होता है। इसी कारण पश्चिमी दर्शनों को उस प्रकार से सोपान क्रम में रखने की अभिवृत्ति नहीं दिखायी देती। परन्तु इन दर्शनों के अवबोध में यह आनुक्रमिकता और सोपानीय

उन्मीलन – वर्ष 34, अंक 2, जुलाई–दिसम्बर 2020
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

संस्थिति अन्तर्निहित फिर भी रहती है। निश्चित ही पश्चिमी परम्परा के समस्त दर्शन एक सोपान क्रम से संस्थित होते हुए ही उदय को प्राप्त करते हैं।

इसके विपरीत भारतीय परम्परा के दर्शनों को देखा जाये तो उनमें सोपान क्रम से दर्शनों का विकास दृष्टिगत नहीं होता। हमें यह पता ही नहीं चलता कि कौन सा दर्शन पूर्व का है तथा कौन सा परकालीन। दर्शनों की पूर्वापरवर्तिता का हम केवल अनुमान लगाते हैं। सभी दर्शन लगभग समान कालक्रम में एक दूसरे की आलोचना करते हुए, उन आलोचनाओं के आलोक में स्वयं को सुपरिष्कृत तथा पुनः परिभाषित करते हुए विकसित होते हैं। इसी कारण यहाँ पर दर्शनों का विकास व्यक्ति केन्द्रित न होकर सम्प्रदाय केन्द्रित होता है। व्यक्ति केन्द्रित दर्शनों की अपेक्षा सम्प्रदाय केन्द्रित दर्शनों के विकास में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। जहाँ व्यक्ति केन्द्रित दर्शनों में वैविध्य की मात्रा अधिक होती है, वहीं सम्प्रदाय केन्द्रित दर्शनों में वैचारिक गम्भीरता अधिक होती है। एक ही व्यक्ति के द्वारा प्रस्तुत दर्शन कितने ही गम्भीर तथा तलस्पर्शी क्यों न हों, उनकी आलोचना सरल होती है, उनको धराशायी कर पाना आसान होता है; क्योंकि उन आलोचनाओं का उत्तर देने के लिए अब वह व्यक्ति हमारे समक्ष उपस्थित नहीं होता। इस कारण बहुधा ऐसा भी हो सकता है कि कोई दर्शन बीज रूप में अत्यन्त परिपुष्ट तथा युक्तियुक्त होने की सम्भावना से युक्त हो, तथापि वह केवल इसी कारण अपने परिनिष्ठित रूप को न प्राप्त कर सके क्योंकि वह कालक्रम में पहले आ रहा है और उसके बाद आने वाले दार्शनिकों ने सतही आधारों पर उस दर्शन को तिरस्कृत कर अपने मत की प्रतिष्ठापना कर दी हो। सम्प्रदाय केन्द्रित दर्शनों के साथ इस प्रकार की सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि यदि किसी दार्शनिक ने इस प्रकार का प्रयास किया भी तो बाद के दार्शनिक उसको सुधारने के लिए सन्नद्ध रहते हैं। इस कारण सम्प्रदाय केन्द्रित दर्शन अपने सिद्धान्त अधिक गहराई से परिपुष्ट करते हैं तथा उनमें आन्तरिक सुसंगति अधिक होती है। अपुष्ट विचार अपनी मृत्यु स्वयं ही मर जाते हैं। भारतीय दर्शनों को सम्प्रदाय केन्द्रित दर्शनों के रूप में देखा जाता है। यहाँ दर्शन उस प्रकार से दार्शनिक पर आधारित नहीं हैं जिस प्रकार सम्प्रदाय केन्द्रित हैं । इस कारण जब हम दर्शनों की सोपान क्रमिकता पर विचार करते हैं तो इन सम्प्रदाय केन्द्रित दर्शनों की सोपान क्रमिकता पर ही विचार करना हमारा उद्देश्य होता है। ऐसा भी नहीं है कि दर्शनों की इस सोपान क्रमिकता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के विषय में विचार का उत्स पश्चिमी दर्शनों के विकास की दृष्टि है, बल्कि इस प्रकार के चिन्तन भारतीय दर्शन परम्परा में बहुत गहराई से विद्यमान हैं तथा इस प्रकार के चिन्तन पर वस्तुतः पाश्चात्त्य चिन्तन का प्रभाव न के बराबर पड़ा है।

दर्शन के अधिकांश विद्यार्थी माधवाचार्य द्वारा सर्वदर्शन सङ्ग्रह में किये गये दर्शनों की सोपानीय व्यवस्था से परिचित होंगे। इस ग्रन्थ में सायण माधवाचार्य एक दर्शन के बाद दूसरे दर्शन को उपस्थित करते हुए सबसे अन्त में अद्वैत वेदान्त दर्शन को प्रस्तुत करते हैं। अपने ग्रन्थ की पुष्पिका में वे कहते हैं कि इतिश्रीसायणमाधवविरचिते सर्वदर्शनशिरो लङ्काररत्नं श्रीमच्छाङ्करदर्शनं परिसमाप्तम्। इस पुष्पिका के माध्यम से सायण माधवाचार्य जो बात बताना चाहते हैं वह यह है कि समस्त दर्शनों का शिरोलङ्काररत्न है आचार्य शङ्कर का अद्वैतवेदान्तदर्शन। सायण माधवाचार्य सभी दर्शनों को एक अनूठे विशिष्ट अनुक्रम में प्रस्तुत करते हैं। वे किसी भी दर्शन को उपस्थित करने के उपरान्त उस दर्शन की कमियों का प्रदर्शन करते हुए उसका निराकरण कर देते हैं। किसी भी दर्शन का निराकरण उस दर्शन की न्यूनता को ही प्रदर्शित करता है। इसी कारण आचार्य शङ्कर का अद्वैत वेदान्त दर्शन शिरोलङ्काररत्न है क्योंकि उसमें किसी भी न्यूनता का प्रदर्शन नहीं किया गया है। वस्तुतः किया नहीं गया है यह बात उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि इसके पीछे यह बात छुपी है कि इस दर्शन में वस्तुतः कोई न्यूनता है नहीं। यह एक दोषमुक्त दर्शन है। इसकी निर्दुष्टता ही इस दर्शन के समस्त दर्शनों का शिरोलङ्कार होने का आधार है। सायण माधवाचार्य के ग्रन्थ सर्वदर्शन सङ्ग्रह का एक सावधान निरीक्षण हमको बताता है कि सायण माधवाचार्य द्वारा समस्त दर्शनों को एक विशिष्ट अनुक्रम में रखने का आधार क्या है। सोलह दर्शनों का विवेचन सर्वदर्शन सङ्ग्रह में किया गया है। अन्तिम के चार दर्शन हैं – पाणिनीय दर्शन, साङ्ख्य, योग तथा शाङ्कराद्वैत दर्शन। इनमें यह बात अत्यन्त प्रसिद्ध है कि साङ्ख्य दर्शन अद्वैत वेदान्त की भूमि है तथा साङ्ख्य तथा योगदर्शन में कोई बहुत भेद नहीं है। इस कारण साङ्ख्य, योग तथा अद्वैत वेदान्त इन तीन दर्शनों की अन्त में इस क्रम में संयोजना अद्वैत वैदान्तिक योजना में बहुत ही अच्छी तरह से उपयुक्त हो जाती है। यह योजना यह भी बताती है कि अन्य दर्शन अद्वैत वेदान्त दर्शन की भावभूमि पर अवस्थित नहीं हैं, अन्यथा केवल यही दर्शन किस प्रकार से शिरोलङ्काररत्न हो सकता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

था। इसी बात को गौड ब्रह्मानन्द सिद्धान्त बिन्दु के व्याख्यानभूत अपने अद्‌भुत ग्रन्थ न्याय रत्नावली के प्रारम्भ में कहते हैं कि श्रीमद् बादरायण, आचार्य शङ्कर तथा सुरेश्वराचार्य के द्वारा जिसकी मर्यादा निर्धारित की गयी है ऐसा वेदान्त दर्शन समस्त दर्शनों में दर्शनीयतम दर्शन है।[1] यद्यपि गौड ब्रह्मानन्द इस अद्वैत वेदान्त दर्शन को दर्शनीयतम बताने का कोई कारण नहीं बताते। परन्तु इस प्रकार से किसी भी दर्शन को समस्त दर्शनों का शिरोलङ्काररत्न बताने का यदि कोई आधार हो सकता है तो यही हो सकता है कि वही दर्शन ऐसा हो सकता है जो समस्त दूषणों से मुक्त है। जिस दर्शन में दूषण हैं वह समस्त दर्शनों का शिरोलङ्काररत्न नहीं हो सकता है।

मधुसूदन सरस्वती भी अपने ग्रन्थ प्रस्थान भेद में इस विषय में हमारा मार्गदर्शन करते हैं। इस छोटे से ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही मधुसूदन सरस्वती बताते हैं कि इस ग्रन्थ को लिखने का उनका उद्देश्य क्या है। वे कहते हैं कि समस्त शास्त्रों का साक्षात् या परम्परा से भगवान् में ही तात्पर्य है इस कारण प्रस्थानों का भेद यहाँ पर बताया जा रहा है।[2] इस ग्रन्थ के समाप्ति के अवसर पर उपसंहार करते हुए मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि सङ्क्षेप में प्रस्थान के भेद केवल तीन हैं – एक हैं आरम्भवाद, दूसरा परिणामवाद तथा तीसरा है विवर्तवाद।[3] इसमें प्रथम प्रस्थान नैयायिकों तथा मीमांसकों का है। नैयायिक पार्थिव, जलीय, तैजस तथा वायवीय परमाणुओं के द्वारा द्वयणुकादि के क्रम से ब्रह्माण्ड पर्यन्त जगत् का आरम्भ स्वीकार करते हैं।[4] द्वितीय पक्ष साङ्ख्य, योग, पाशुपत तथा वैष्णवों का है। मूल पक्ष यह है कि सूक्ष्म रूप में सत् कार्य ही कारण व्यापार से अभिव्यक्त होता है। उसमें भी दो पक्ष हैं; एक तो यह कि सत्त्वरजस्तमोगुणात्मक प्रधान या प्रकृति ही महद् अहङ्कार आदि के क्रम से जगत् के रूप में परिणत होती है।[5] दूसरा पक्ष यह है कि ब्रह्म का ही परिणाम है जगत् और यह पक्ष वैष्णवों का है।[6] तीसरा पक्ष है ब्रह्मवादियों का, जिसके अनुसार स्वप्रकाश, परमानन्द अद्वितीय ब्रह्म अपनी माया के वश जगत् के रूप में मिथ्या ही कल्पित होता है।[7] इस विवेचन के क्रम में मधुसूदन सरस्वती यह निष्कर्ष देते हैं कि सभी प्रस्थानकर्ता मुनियों के विचारों का विवर्तवाद में ही पर्यवसान होने के कारण अद्वितीय परमेश्वर के प्रतिपादन में ही तात्पर्य है।[8] इस क्रम में विचारों को रखने का प्रयोजन यह है कि विवर्तवाद की पूर्वपीठिका है परिणामवाद। इस बात को संक्षेप शारीरक में सर्वज्ञात्ममुनि ने भी बहुत अच्छी तरह से रेखांकित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

किया है, जब वे कहते हैं कि वेदान्तवाद में विवर्तवाद की पूर्वभूमि है परिणामवाद। परिणामवाद के व्यवस्थित हो जाने पर स्वयं ही विवर्तवाद आ जाता है।[9]

मधुसूदन सरस्वती ने इस समग्र विवेचन में नास्तिक दर्शनों को कहीं पर भी स्थान नहीं प्रदान किया है। यदि समस्त दर्शनों को दर्शनों की सोपानीय व्यवस्था में स्थान देना हो तो नास्तिक दर्शनों को भी कहीं पर ही सही स्थान तो दिया ही जाना चाहिए था। सर्वदर्शन सङ्ग्रह में सायण माधवाचार्य ने नास्तिक दर्शनों को दर्शनों की सोपानीय व्यवस्था में एकदम प्रारम्भ में रखा है। इसी कारण चार्वाक, बौद्ध तथा जैन ये तीन दर्शन एकदम प्रारम्भ में सर्वदर्शन सङ्ग्रह में आते हैं। यद्यपि विचारणीय तथ्य यह है कि बौद्ध कोई एक दर्शन नहीं है, बल्कि कम से कम चार दर्शनों, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक के लिए बौद्ध दर्शन इस संज्ञा का प्रयोग किया जाता है। इन चारों को ही क्या एक ही स्थान पर रखना उचित होगा? दर्शनों की किसी भी सुचिन्तित सोपानीय व्यवस्था में इन चारों को एक ही स्तर पर नहीं रखा जा सकता क्योंकि ये चारों दर्शन भी एक दूसरे के धुरविरोधी दर्शन हैं। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि इन दर्शनों में कुछ समानताएँ हैं, तो इस प्रकार की समानताएँ तो आस्तिक दर्शनों में भी खोजी जा सकती हैं। इसलिए माधवाचार्य द्वारा दर्शनों की सोपानीय व्यवस्था पक्षपात रहित तथा सुचिन्तित नहीं कही जा सकती। प्रस्थान भेद के प्रारम्भ में मधुसूदन सरस्वती नास्तिकों के छह प्रस्थानों, चार्वाक, जैन तथा बौद्ध के चार प्रस्थान, को उपस्थापित करने के उपरान्त इन नास्तिक प्रस्थानों का परिगणन न करने के पीछे, सोपानीय व्यवस्था में कहीं पर भी स्थान नहीं देने के पीछे कारण क्या है, इसको बताते हैं। उनका कहना यह है कि ये छहों प्रस्थान वस्तुतः पुरुषार्थ के साधन नहीं हैं, इस कारण इनका विवेचन नहीं किया जा रहा है। वेद बाह्य होने के कारण म्लेच्छों के प्रस्थानों की तरह इन प्रस्थानों की परम्परया भी पुरुषार्थोपयोगिता नहीं है।[10] इस कारण इन प्रस्थानों का विभाग यहाँ पर नहीं दिखाया गया है। मधुसूदन सरस्वती का आशय यह प्रतीत होता है कि आस्तिक दर्शनों का तो उद्देश्य है, वे सप्रयोजन हैं, परन्तु नास्तिक दर्शन नितान्त उद्देश्यहीन हैं। इस कारण उनकी परिगणना सोपान क्रम में नहीं की गयी है।

इस परिप्रेक्ष्य में यह विपरीत तथ्य विचारणीय है कि बौद्ध दार्शनिक अपने ग्रन्थों में अनेकत्र उन ग्रन्थों की पुरुषार्थोपयोगिता का प्रतिपादन करते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हैं। न्याय बिन्दु प्रकरण के प्रथम वाक्य में ही धर्मकीर्ति कहते हैं कि सम्यग्ज्ञानपूर्वक सर्वपुरुषार्थसिद्धि होती है, इस कारण उस का (सम्यग् ज्ञान का) व्युत्पादन किया जा रहा है।[11] इस कारण बौद्ध दार्शनिकों ने तो अपने दर्शन को सोद्देश्यक माना ही है। मधुसूदन सरस्वती द्वारा उनके निरुद्देश्य होने का कथन उनकी निरुद्देश्यता को नहीं स्थापित कर सकता। जब बौद्ध दार्शनिक आस्तिक दर्शनों का खण्डन करते हैं, तो उससे इसके विपरीत पक्ष की यानी आस्तिक दर्शनों की निष्प्रयोजनता का दावा ही उपस्थित होता है। वस्तुतः मधुसूदन सरस्वती द्वारा नास्तिक दर्शन प्रस्थानों का दर्शनों की सोपानीय व्यवस्था में अन्तर्भाव और परिगणन नहीं करना यह संकेत करता है कि दर्शनों का सोपानीय व्यवस्था में परिगणन कोई सुचिन्तित प्रक्रिया नहीं है, जिसके आधार पर यह व्यवस्थित किया जा रहा हो कि कौन सा दर्शन उस सोपानीय व्यवस्था में किस क्रम पर आयेगा। समस्या यह है कि जिन भी मुनियों के द्वारा इन दर्शनों का प्रणयन किया गया है, परम्परा उन सबको सर्वज्ञ मानती है। यदि सभी मुनि ही सर्वज्ञ हैं तो किस कारण उनके सिद्धान्तों में विरोध दिखता है? बहुत ही प्रसिद्ध श्लोक है — कपिलो यदि सर्वज्ञो गौतमो नेति का प्रमा। द्वयो रपि हि सार्वज्ञ्ये विरोधः किंनिबन्धनः।। यदि कपिल सर्वज्ञ हैं तो गौतम सर्वज्ञ नहीं है इसको कैसे मान लिया जाये; यदि दोनों ही सर्वज्ञ हैं तो इनके सिद्धान्तों में विरोध किस कारण है? मधुसूदन सरस्वती ने नास्तिक दर्शनों को तो सीधे–सीधे खारिज कर दिया। परन्तु आस्तिक दर्शनों में जो आन्तरिक विरोध व्याप्त है उसका किस प्रकार से समाधान किया जाये? इस उलझन से निकलने का एक ही मार्ग दिखता है कि समस्त दर्शनों को एक सोपानीय व्यवस्था में रख दिया जाये। इस प्रकार से दर्शनों को रख देने पर मूल बात यह आती है कि दर्शनों में दिखायी देने वाला विरोध वस्तुतः विरोध नहीं है, मात्र विरोधाभास है। व्यक्तियों की योग्यता तथा क्षमता को दृष्टिगत रखते हुए विभिन्न मुनियों ने अलग–अलग मार्गों का प्रस्ताव किया है। मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि वे मुनि भ्रान्त नहीं हैं क्योंकि वे सभी सर्वज्ञ हैं।[12] फिर किस कारण से विभिन्न परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का प्रणयन उनके द्वारा किया गया है? तो इसका कारण यह है कि व्यक्तियों के स्वभावतः बाह्यविषयप्रवण होने के कारण आपाततः उनका प्रवेश पुरुषार्थ में नहीं हो सकता है, इस कारण उनका नास्तिक्य सम्भाव्य है। इसलिए नास्तिकता का वारण करने के लिए उनकी रुचियों के अनुसार प्रकार भेद प्रदर्शित किये गये हैं।[13]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सायण माधवाचार्य तथा मधुसूदन सरस्वती से भी पहले स्कन्द पुराण की सूतसंहिता में दर्शनों को सोपानीय व्यवस्था में रखने का एक प्रयास दिखायी देता है। इस ग्रन्थ में लोकायत को छोड़कर अद्वैतमत पर्यन्त शेष समस्त सिद्धान्तों के प्रामाण्य को स्थापित करने की अभिवृत्ति दिखायी देती है। इसमें यज्ञ वैभवकाण्ड का पूरा का पूरा एक अध्याय 'ग्यारहवाँ अध्याय' इसी उद्देश्य से समर्पित है जिस में समस्त दर्शन सम्प्रदायों के प्रामाण्य का स्थापन किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि सायण माधवाचार्य ने सूतसंहिता से ही प्रेरणा लेकर समस्त दर्शनों को सोपानीय व्यवस्था में सुसंगत रूप से रखने का प्रयास किया होगा। माधवाचार्य की तात्पर्य दीपिका नाम की टीका भी सूतसंहिता पर प्राप्त होती है। परन्तु यह नहीं निश्चित होता है कि ये माधवाचार्य सर्वदर्शन सङ्ग्रह के लेखक सायण माधवाचार्य ही हैं या कोई और। इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कह पाना सम्भवन हीं है।

सायण माधवाचार्य तथा मधुसूदन सरस्वती से काफी पहले उदयनाचार्य ने आत्मतत्त्वविवेक में दर्शनों का एक सोपानीय व्यवस्था में वर्गीकरण किया है। उदयनाचार्य अपने विवेचन में समस्त दर्शनों, आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों, का उत्सवेदों में प्रदर्शित करते हैं। यह एक दूसरी समस्या की ओर भी संकेत करता है कि क्या हमारा आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों के रूप में दर्शनों का विभाग सचमुच में वस्तुनिष्ठ है? यदि समस्त दर्शनों का उत्स वेदों में ही है तो क्या समस्त दर्शन ही वैदिक दर्शन नहीं हो जायेंगे और इस कारण उन सबको ही क्या आस्तिक दर्शन नहीं कहा जाना चाहिए ? वे कहते हैं कि आत्म विषयक विचार प्रारम्भ करने पर प्रथमतया बाह्य अर्थ ही भासित होते हैं। उन्हीं बाह्य अर्थों को आधार बनाकर कर्ममीमांसा तथा चार्वाक मत का समुत्थान होता है। तथा उसी का प्रतिपादन करने के लिए पराञ्चि खानि इत्यादि वाक्य वेदों में आते हैं। तथा उन्हीं का त्याग करने के लिए परं कर्मभ्यः इत्यादि वाक्य प्राप्त होते हैं।[14] यह दर्शनों की प्रारम्भिककोटि या प्रारम्भिकस्तर कहा जा सकता है। इस कोटि के उपरान्त अर्थाकार का प्रतिभासन होता है। उसी को आधार बनाकर त्रैदण्डिकमत का उपसंहार है तथा योगाचार विज्ञानवाद का समुत्थान है। उसी का प्रतिपादन करने के लिए आत्मैवेदंसर्वम् इत्यादि का कथन किया गया है। तथा उसी का परित्याग करने के लिए अगन्धरसम् इत्यादि कहा गया है।[15] इससे भी आगे बढ़ने पर अर्थाभाव प्रतीत होता है। जिसको आधार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बनाकर वेदान्त द्वार मात्रोपसंहार तथा शून्य नैरात्म्यसमुत्थान है। उसी का प्रतिपादन करने के लिए असदेवेदमग्र आसीत् इत्यादि श्रुतियाँ हैं। तथा उसी का परित्याग करने के लिए अन्धं तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनोजनाः इत्यादि कहा गया है।[16] इसके बाद का क्रम आता है आत्मा तथा अनात्मा के विवेक का। उसी विवेक को आधार बनाकर साङ्ख्यमत का उपसंहार है तथा शक्ति तत्त्व का समुत्थान है। उसी का प्रतिपादन करने के लिए प्रकृतेः परस्तात् इत्यादि। तथा उसी का परित्याग करने के लिए नान्यत् सत् इत्यादि कहा गया है।[17] इसके अनन्तर केवल आत्मा ही प्रकाशित होता है जिसको आधार बनाकर अद्वैत मत का उपसंहार किया जाता है। उसी का प्रतिपादन करने के लिए यतो वाचो निर्वतन्ते अप्राप्य मनसा सह यह कहा गया है तथा उसी का त्याग करने के लिए नाद्वैतं नापि द्वैतम् कहा गया है।[18] इसके उपरान्त समस्त संस्कारों का अभिभव हो जाने के कारण केवल आत्मा भी विकल्पित नहीं होता। इसी विकल्प हीनता की अवस्था को आधार बना कर चरमवेदान्त का उपसंहार किया गया है। उसी का प्रतिपादन करने के लिए न पश्यतीत्याहुरेकी भवति इत्यादि वचन हैं। यह अवस्था ऐसी अवस्था है जिस का परित्याग नहीं करना है क्योंकि यह अवस्था मोक्षनगर के द्वार के समान है। तथा इस अवस्था की पूर्णता स्वयं ही उसमें हो जाती है जिसको आधार बनाकर न्याय दर्शन का उपसंहार किया गया है।[19] उदयनाचार्य द्वारा किया गया यह विवेचन इसका स्पष्ट संकेत देता है कि उदयनाचार्य के मन में किस प्रकार की सोपानीय व्यवस्था दर्शनों की है, जिसमें चार्वाक तथा कर्ममीमांसा पहले सोपान पर अवस्थित होते हैं और न्याय चरम लक्ष्य के रूप में, अन्तिम उद्देश्य के रूप में दिखायी देता है। हम माधवाचार्य की दृष्टि को इस दृष्टि की एक प्रतिदृष्टि के रूप में, एक विपरीत दृष्टि के रूप में देख सकते हैं। उदयनाचार्य ने दो–दो दर्शनों को एक ही भाव भूमि पर स्थापित किया है, जिसमें से एक दर्शन की दृष्टिग्राह्य है तथा द्वितीय दर्शन की दृष्टि अग्राह्य है। इस कारण नास्तिक तथा आस्तिक दोनों ही दर्शनों के लिए अवसर बन जाता है। परन्तु उच्चतम दर्शन के सिंहासन पर केवल एक ही दर्शन को बैठना है।

सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रह ग्रन्थ को शङ्कराचार्य के साथ जोड़ा जाता है। यद्यपि यह निश्चित तौर से कह पाना सम्भव नहीं है कि इस ग्रन्थ के लेखक शङ्कराचार्य ही हैं, अधिक सम्भावना यही है कि इस के लेखक आदि शङ्कराचार्य नहीं हैं, क्योंकि शङ्कराचार्य से जिस गम्भीरता की हम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अपेक्षा करते हैं, इस ग्रन्थ में वैसी गम्भीरता नहीं दिखायी देती। इस ग्रन्थ में सायण माधवाचार्य के ग्रन्थ सर्वदर्शन सङ्ग्रह में अपनाई गयी पद्धति दिखायी देती है। परन्तु यह ग्रन्थ सर्वदर्शन सङ्ग्रह से प्राचीन है, इसको निरपवाद रूप से स्वीकार करना पड़ेगा। इस कारण यही मानना उचित दिखता है कि सम्भवतः इस ग्रन्थ से या सूतसंहिता से सायण माधवाचार्य ने प्रेरणा ग्रहण की होगी। इस ग्रन्थ में भी दर्शनों का सोपानक्रम से प्रतिपादन किया गया है। लोकायतमत से प्रारम्भ करते हुए अन्त में अद्वैत वेदान्त में दर्शनों की परिपूर्णता का प्रतिपादन इसमें प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ का जो क्रम है वह सर्वदर्शन सङ्ग्रह के क्रम की अपेक्षा अधिक सुचिन्तित प्रतीत होता है। सर्वदर्शन सङ्ग्रह में नास्तिक दर्शनों का परिगणन लोकायत, बौद्ध तथा जैन इस प्रकार से प्राप्त होता है, बौद्ध सम्प्रदाय के चारों दर्शनों में किसी प्रकार की क्रमिकता का विचार नहीं किया गया है। यद्यपि माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक इस क्रम से यहाँ पर भी बौद्ध दर्शनों को देखा गया है, यह संकेत प्राप्त किया जा सकता है। सर्वसिद्धान्त सङ्ग्रह ग्रन्थ में बौद्ध सम्प्रदाय के दर्शनों में भी क्रमिकता का सुस्पष्ट विचार प्राप्त होता है। लोकायत के बाद जैन और जैन के बाद बौद्ध दर्शनों का परिगणन एक के बाद दूसरे का है। समस्त दर्शनों को एक विशिष्टक्रम से रखा गया है। लोकायत, जैन, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, वैशेषिक, नैयायिक, प्रभाकर, कुमारिल, सांख्य, योग, वेदव्यास तथा वेदान्त इस क्रम से दर्शनों का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में किया गया है। वेदव्यास नाम से जिस दर्शन का प्रतिपादन है वह महाभारत का दर्शन है। वेदान्त नाम से अद्वैतवेदान्त का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ में चारों बौद्ध दर्शनों का जो क्रम है, वह अपने आप में विलक्षण है। प्रथमतः सर्वनिषेधवादी माध्यमिक, फिर बाह्यार्थनिषेधवादी योगाचार, तदनन्तरबाह्यार्थानुमेयवादी सौत्रान्तिक तथा उसके बाद बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादी वैभाषिक ये क्रम है बौद्ध दर्शनों का। इस ग्रन्थ में भी पूर्व–पूर्व दर्शन का निराकरण करते हुए क्रमशः दर्शनों का प्रतिपादन किया गया है। अन्त में यहाँ पर भी अद्वैतवेदान्त दर्शन की ही प्रतिष्ठापना की गयी है। इस ग्रन्थ के लेखक के अनुसार समस्त दर्शनों का प्रवर्तन उन–उन दर्शनों के प्रवर्तकों ने अधिकारिता को देखकर किया है।[20] इस कारण इन में विरोध प्रतिभा समान होने पर भी वस्तुतः विरोध है नहीं। परन्तु लोकायत, बौद्ध तथा आर्हत का सिद्धान्त वेद के अप्रामाण्य का है, इस कारण वेद का प्रामाण्य स्वीकार करने वाले दार्शनिकों को युक्तियों से उनका

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

निरास करना चाहिए।[21] इस ग्रन्थ में दर्शनों का जो क्रम बताया गया है, उसमें सर्वदर्शन सङ्ग्रह की अपेक्षा यौक्तिकता का पुट फिर भी दिखता है, क्योंकि चारों बौद्ध दर्शनों को सर्वदर्शन सङ्ग्रह में एक ही स्तर पर रख दिया गया है, उसके विपरीत यहाँ पर उन चार बौद्ध दर्शनों में भी क्रम का निर्धारण किया गया है। यद्यपि इन चार दर्शनों में इस क्रम का निर्धारण कितना युक्ति संगत है, यह विवाद का विषय है, क्योंकि यहाँ पर वैभाषिक को इन चारों दर्शनों में उच्चतम दर्शन माना गया है और माध्यमिक का योगाचार दृष्टि से, योगाचार का सौत्रान्तिक दृष्टि से और सौत्रान्तिक का वैभाषिक दृष्टि से निराकरण किया गया है। यदि युक्तियों की गम्भीरता की दृष्टि से देखा जाये तो वैभाषिक से अधिक गम्भीर सौत्रान्तिक की युक्तियाँ हैं तथा सौत्रान्तिक का पर्यवसान विज्ञानवाद में होता हुआ हम प्रमाणवार्तिक आदि ग्रन्थों में सुस्पष्ट देखते हैं। यदि कालक्रम की दृष्टि से देखा जाये तो भी वैभाषिक ही सबसे पहले आता है। इस कारण इस ग्रन्थ के द्वारा किया गया दर्शनों के अनुक्रम का निर्धारण युक्ति की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। परन्तु दर्शनों के अनुक्रम का निर्धारण नितान्त वैयक्तिक अभिरुचि के आधार पर करने की अपेक्षा किन्हीं खण्डनार्ह यौक्तिक आधारों पर करना फिर भी स्वागत योग्यं है।

टी. गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित अज्ञातकर्तृकसर्वमतसङ्ग्रह भी दर्शनों का प्रतिपादन करते हुए अन्त में अद्वैत दर्शन को ही रखता है। इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ पर अन्त में जिस अद्वैत दर्शन को रखा गया है वह अद्वैतवेदान्त न होकर शिवाद्वैत प्रतीत होता है। दर्शनों का विवेचन करने के क्रम में छह दर्शनों का विभाग किया गया है — मीमांसा, सांख्य, तर्क ये तीन वैदिक दर्शन तथा लोकायत, आर्हत तथा बौद्ध ये तीन अवैदिक दर्शन। इस प्रकार से छह दर्शनों की गणना करते हुए भी अन्य दर्शनों को भी इनके अन्तर्गत ही यह ग्रन्थ रखता है। यथा तर्क के अन्तर्गत न्याय तथा वैशेषिक इन दोनों को, सांख्य के अन्तर्गत से श्वरसांख्य तथा निरीश्वर सांख्य इस प्रकार से विभाग करते हुए सांख्य तथा योग को, मीमांसा के अन्तर्गत कर्ममीमांसकों के मत का तथा ब्रह्मवादियों के मत का निरूपण किया गया है। ब्रह्मवादियों में भी प्रमुखतया दो विभाग किये हैं, औपनिषद् ब्रह्मवादिमत तथा पुराणादिब्रह्मवादीमत। इसमें फिर से औपनिषद् ब्रह्मवादिमत का सगुणब्रह्मवादी तथा निर्गुणब्रह्मवादी इस प्रकार से विभाग किया गया है। सगुणब्रह्मवादी के रूप में रामानुज, भास्कर आदि वेदान्तियों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के मत को तथा निर्गुण ब्रह्मवादिमत के रूप में अद्वैतवेदान्त के मत को लिया है। इसके उपरान्त अन्तिम मत के रूप में पौराणिक ब्रह्मवादि मत के रूप में प्रायशः शिवाद्वयवाद को उपस्थापित किया है। इस ग्रन्थ के कई एक विवेचन इतने संक्षिप्त हैं कि स्पष्टतया समझ पाना कठिन हो जाता है कि वह किसका मत दिया जा रहा है। जैसे कि अन्तिम में प्रदर्शित पौराणिक ब्रह्मवादीमत। इस ग्रन्थ की दूसरी विशिष्टता यह है कि कहीं पर तो परवर्ती दर्शन का उपस्थापन करने के प्रसंग में पूर्ववर्ती दर्शन में दोष प्रदर्शन करते हैं, तो कहीं पर नहीं करते हैं। इस कारण इस ग्रन्थ का लेखक क्या सोपानीय व्यवस्था में दर्शनों को रखना चाहता है या नहीं, इसके बारे में एकदम निश्चित रूप से कुछ भी कह पाना कठिन है। परन्तु इस ग्रन्थ के लेखक को भी दर्शनों को सोपान क्रम में रखना इष्ट था, यह प्रतीति तो होती है। इसका संकेत इससे प्राप्त होता है कि इस ग्रन्थ में विविध दर्शनों के अनुसार विचार करने के पूर्व ही प्रमाणों का विवेचन तथा अष्टादशविद्या स्थानों का विवेचन करते हुए वैदिक विचार शास्त्र यानी मींमांसा की ओर ग्रन्थकार ने अपना झुकाव स्पष्ट प्रकट कर दिया है। वैदिक दर्शनों का जो क्रम प्रदर्शित किया गया है तथा न्याय और वैशेषिक को तर्क के अन्तर्गत रखते हुए वेदोपाङ्ग के रूप में इसकी स्थापना की है। यह सारा का सारा विचार मधुसूदन सरस्वती के प्रस्थान भेद का ही अनुसरण करता हुआ दिखता है। अन्त तो अद्वैत से किया ही गया है। यह अवश्य हैं कि औपनिषद् अद्वैत के बाद पौराणिक अद्वैत का प्रतिपादन करते हुए लेखक सम्भवतः इन दोनों के मध्य भी एक समन्वय की भावना का प्रदर्शन करना चाहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक सामान्य सी अभिवृत्ति देखी जाती है जिस में भारतीय दार्शनिक चिन्तन की पराकाष्ठा के रूप में अद्वैतवेदान्त को देखने की प्रवृत्ति है। परन्तु इसी को सर्वमान्य दृष्टि मान लेना बहुत बड़ी भूल होगी।

हरिभद्रसूरि प्रणीत षड्दर्शनसमुच्चय पर गुणरत्न द्वारा प्रणीत व्याख्या एक अलग तरह का ही चित्र प्रस्तुत करती है। जैनदर्शन के प्रसिद्ध सिद्धान्त स्याद्वाद को दृष्टि में रखते हुए गुणरत्न यह बताते हैं कि अन्य समस्त दर्शन अपने–अपने अत्यन्त विपरीत सिद्धान्तों की स्थापना करने का प्रयास करते रहते हैं। इस कारण वे एक दूसरे का खण्डन कर रहे होते हैं। परन्तु जैन शासन स्याद्वांद की स्थापना करता हुआ इन सभी दर्शनों के साथ संगत होता है। गुणरत्न की यह स्थापना भी दर्शनों को एक विशिष्ट दृष्टियों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

से देखना का ही अनुरोध है। गुणरत्न बताना चाहते हैं कि जैन दर्शन की स्थिति अन्य दर्शनों की अपेक्षा अनूठी है। अन्य दर्शन परस्पर विरोधी सिद्धान्तों की स्थापना करते हुए जहाँ एक ही भाव भूमि पर अवस्थित होते हुए लड़ते रहते हैं, वहीं जैन दर्शन उस विरोध की भूमि से ऊपर उठकर अपने सिद्धान्त की स्थापना करता है। अन्य समस्त दर्शन जहाँ अपने–अपने सिद्धान्तों के भेद से परस्पर विरोधी होते हुए एक दूसरे का निषेध करते रहते हैं, यद्यपि उनमें भी वस्त्वंश हैं। उन सब में वस्त्वंश होने के कारण जब वे परस्पर सापेक्ष हो जाते हैं तो पारमार्थिक रूप से सत्य हो जाते हैं। परस्पर निरपेक्ष होने पर आकाश कुसुम की तरह हो जाते हैं।[22] समस्त दर्शनों की सापेक्षिकता ही स्याद्वाद है। हरिभद्रसूरि ही नहीं बल्कि सिद्धसेन दिवाकर आदि अन्य जैन दार्शनिक भी दर्शनों की सोपानीय व्यवस्था के पक्ष में निर्णय देते हैं। सिद्धसेन ने तो सन्मति प्रकरण में सुस्पष्टतया मिथ्या दृष्टि तथा सम्यक् दृष्टि का जिस प्रकार से विभाग किया है, तदनुसार केवल जैन दर्शन ही सम्यक् दृष्टि हो सकता है। अन्य दर्शन तो सम्यक् दृष्टि हो ही नहीं सकते। सिद्धसेन दिवाकर स्पष्टतया कहते हैं समस्त नय सपक्ष प्रतिबद्ध होने के कारण मिथ्या दृष्टि हैं, परन्तु अन्योन्य निश्रित होते हुए वे सब दृष्टियाँ सम्यक् दृष्टि हो जाती हैं।[23] सिद्धसेन दिवाकर द्वारा की गयी यह व्यवस्था अन्य ग्रन्थों में नहीं प्राप्त होती हो ऐसा नहीं है। अन्य जैन ग्रन्थों में भी इसका प्रतिपादन मिलता है। मल्लवादी का द्वादशारनयचक्र तो अन्य सब दृष्टियों का प्रत्याख्यान करते हुए अनेकान्तवाद में उन सब दृष्टियों का पर्यवसान प्रतिपादित करता है। यह ग्रन्थ उदयनाचार्य से भी पहले का है। इस ग्रन्थ में मल्लवादी सभी दृष्टियों को बारह अरों वाले नयचक्र के रूप में देखते हैं, जिस में हर दृष्टि अपने से भिन्न दृष्टियों को काटती है। अन्तिम दृष्टि पहली दृष्टि को काट देती है। इस कारण सभी दृष्टियाँ मिथ्या दृष्टि ही हैं। उन समस्त दृष्टियों का सापेक्षिक रूप में सहयोजन करने पर अनेकान्त दृष्टि प्राप्त होती है, वही सम्यक् दर्शन है। मिथ्या दृष्टि तथा सम्यक् दृष्टि का इस प्रकार से विभाग करते हुए जैन दार्शनिक केवल अनेकान्तवाद ही सम्यग् दर्शन है तथा अन्य समस्त दर्शन मिथ्या दर्शन हैं, इस प्रकार का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं। अनेकान्तवाद को छोड़कर बाकी सभी दृष्टियाँ एक ही स्तर की हैं, उनमें मिथ्यात्व का आधान करने वाली बात है उनके द्वारा वस्तु के केवल एक पक्ष का ग्रहण। अनेकान्तवाद वस्तु के एकान्तवादी पक्ष को ही ग्रहण नहीं करता बल्कि सभी पक्षों का ग्रहण करता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है, इसलिए वही सम्यक् दृष्टि है। यद्यपि जैन दार्शनिक कई एक सोपानों की व्यवस्था का प्रतिपादन नहीं करते हैं, बल्कि केवल द्विस्तरीय व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं। जिसमें नीचे के स्तर पर अन्य सभी दर्शन अवस्थित हैं तो ऊपर की मंजिल पर केवल जैन दर्शन ही अवस्थित है, जो कि सर्वसमावेशी है। दर्शनों को सोपानीय व्यवस्था में देखने की यह भी एक सरणि है।

लगभग इसी प्रकार की बात गौड़पाद ने अपनी माण्डूक्यकारिका ग्रन्थ में कही है। गौड़पाद कहते हैं कि सभी वादी अपने–अपने सिद्धान्त की व्यवस्था करने में दृढ़ हैं, वे अपने सिद्धान्त की उपस्थापना भी करते हैं तथा पर पक्ष का खण्डन भी करते हैं। परन्तु वेदान्त का सिद्धान्त इन समस्त विरोधों से परे है, उनसे ऊपर है। क्योंकि ये समस्त दर्शन व्यवहार की भाव भूमि पर अवस्थित हैं तो वेदान्त का अद्वैतवाद परमार्थ की भावभूमि पर अवस्थित है।[24] गौड़पाद ने एक तरह से सर्ववादा विरोधिता को ज्ञान का आदर्श स्थापित करते हुए अद्वैतवाद को उसी पर आधारित किया है। अन्य दर्शनों में इस प्रकार की सर्ववादाविरोधिता सम्भव नहीं हो सकती है, इस कारण अन्य दर्शनों को एक सोपान नीचे का दर्शन तो कम से कम मानना ही पड़ेगा।

उदयनाचार्य से तनिक अर्वाचीन शिवाद्वयवाद के प्रतिष्ठापक आचार्य के रूप में विख्यात अभिनवगुप्त ने भी उच्चतम दर्शन के विषय में अपना अभिमत प्रस्तुत किया है। अपने ग्रन्थ तन्त्रालोक के 35वें आह्निक सर्वशास्त्रमेलन प्रकरण में अभिनवगुप्त समस्त शास्त्रों का प्रामाण्य प्रतिपादित करते हैं। इस आह्निक के प्रथम श्लोक अथोच्यते समस्तानां शास्त्राणामिह मेलनम् की भूमिका लिखते हुए जयरथ बहुत ही स्पष्ट रूप से कहते हैं कि इदानीं सर्वशास्त्रैकवाक्यतावचन द्वारा द्वितीयार्धेनसर्वागम प्रामाण्यं प्रतिपादयितुंप्रतिजानीते, यानी इस समय समस्त शास्त्रों की एकवाक्यता प्रतिपादन के माध्यम से द्वितीयार्ध (शेष आधे श्लोक) से सभी आगमों के प्रामाण्य का प्रतिपादन की प्रतिज्ञा करते हैं।[25] इस सर्वशास्त्र मेलन प्रकरण नामक 35वें आह्निक में अभिनव गुप्त समस्त दर्शनों के प्रामाण्य की स्थापना करते हैं। परन्तु श्रेष्ठतम दर्शन के रूप में शिवाद्वयवाद को ही रखते हैं। विभिन्न दर्शनों में विरोध दिखायी देता है, यदि सभी दर्शन, सभी आगम सर्वज्ञ के द्वारा ही प्रणीत हों तो उनका परस्पर विरोध होने के कारण यह मानने की परिस्थिति आ जायेगी कि कोई भी आगम प्रमाण नहीं हो सकेगा।[26] अभिनवगुप्त विभिन्न दर्शनों के विषय में बात करते हुए आगम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शब्द का प्रयोग करते हैं। इसीलिए अभिनवगुप्त भोग, अपवर्ग तथा उसके कारणों के बारे में बताने वाले शताधिक आगमों का मूल भैरव को ही मानते हैं।[27] परन्तु यदि समस्त आगमों का मूल भैरव में ही है, तो क्या इन समस्त आगमों में कोई अन्तर है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि उसी भैरव से अंश तथा आंशिक के अयोग से, देश, कुल आदि के भेद से, वैदिक या लौकिक के भेद से, वह प्रसिद्धि शास्त्र या परम्परा को लेकर प्रवृत्त होती है, तथा उसी से लोक का व्यवहार होता है।[28] आगे वहीं पर अभिनवगुप्त कहते हैं कि उसी प्रसिद्धि से ही शैशव से लेकर सभी लोग व्यवहार के धरातल पर अवस्थित रहते हैं। परन्तु विवेकी लोक प्रथम स्थानीय शैव आगम का उपजीवन ग्रहण करते हैं। अन्य जितने भी आगम हैं वे अपूर्व हैं, इसलिए उनका आश्रय ग्रहण करने वाले मोक्ष फलभागी नहीं होते, परन्तु जितने का उपजीवन ग्रहण करते हैं, उसके उतने फल के भागी बनते हैं।[29] अभिनवगुप्त दावा करते हैं कि एक ही आगम है जो सर्वदर्शी विभु के द्वारा दिखा या गया है, जो कि प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों ही मार्गों पर अवस्थित है।[30] इसका तात्पर्य यह है कि वस्तुतः आगम केवल एक ही है, अन्य सभी उसी आगम के किसी एक भाग पर आश्रित होते हुए अपने मत की स्थापना कर रहे हैं। एक आगम होने का तात्पर्य यह है कि एक ही आगम पूर्ण है, अन्य समस्त आगम अपूर्ण हैं। इस आगम के पूर्ण होने के कारण धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष चारों ही पुरुषार्थों की सिद्धि इससे सम्भव होती है, परन्तु अन्य सब आगम अपूर्ण होने के कारण विषय की विलक्षणता के कारण पूर्णफल न प्रदान करते हुए विचित्र फल प्रदान करते हैं। चूँकि वे सब चित्रोपाय का उपदेश दे रहे हैं, इस शैवागम के द्वारा पूर्णोपाय का उपदेश दिया जा रहा है; इस कारण शैवागम में तथा अन्य आगमों में कोई विरोध नहीं है।[31] इस प्रकार से अभिनवगुप्त यह प्रस्ताव करते हैं कि वस्तुतः केवल यही दर्शन पूर्ण है, अन्य दर्शन अपूर्ण हैं। अभिनवगुप्त कहते हैं कि जिस प्रकार से फूलों में गन्ध, तिल में तैल, देह में जीव, जल में अमृत व्याप्त है, उसी प्रकार से सभी शास्त्रों में कुल शास्त्र (शैवागम दर्शन) प्रतिष्ठित है।[32] अभिनवगुप्त का यह दावा जैनियों के दावे के समान ही है। जैनी भी यही कहते हैं कि उनका दर्शन एक पूर्णदर्शन है, अन्य समस्त दर्शन अपूर्ण दर्शन हैं; क्योंकि वे तत्त्व के केवल एक ही पक्ष का चित्र प्रस्तुत करते हैं, इसके विपरीत जैनदर्शन तत्त्व का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है। इसी के समान अभिनवगुप्त का दावा भी है। अपूर्ण दर्शनों का पूर्णदर्शन से कोई विरोध नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हो सकता है, क्योंकि अपूर्ण दर्शन परस्पर एक दूसरे में विलीन होते हुए पूर्ण दर्शन में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार से शिवाद्वयवाद की भी सर्ववादाविरोधिता स्थापित हो जाती है। एक ही आगम से खण्ड–खण्ड में ग्रहण किये हुए लोक में ये विविध आगम बन जाते हैं, जिससे व्यक्ति मोहित होता हुआ भ्रान्त हो जाता है।[33] आगे विचार करते हुए और आगमों की अनेकता स्वीकार करते हुए भी अभिनवगुप्त सभी आगमों का प्रामाण्य व्यवस्थापित करते हैं। यह एक दूसरी दृष्टि है। इसके अनुसार यद्यपि आगम अनेक हैं, कोई पूर्ण तथा अन्य सभी अपूर्ण नहीं हैं। फिर भी सोपान क्रम से एक को ऊपर तथा अन्य को क्रम से नीचे का दर्शन मानते हुए प्रामाण्य स्थापित करना पड़ेगा, अन्यथा किसी भी आगम का प्रामाण्य नहीं स्थापित किया जा सकेगा।[34] सर्वदर्शनसङ्ग्रह में माधवाचार्य जिस मार्ग का अनुसरण करते हुए समस्त दर्शनों का समन्वय करने का प्रयास करते हैं, यहाँ पर माधवाचार्य से कई सौ वर्ष पूर्व अभिनवगुप्त भी उसी प्रकार से समस्त दर्शनों का समन्वय करने का प्रयास कर रहे हैं। यद्यपि अभिनवगुप्त का यह दूसरा विकल्प है।

परन्तु यदि सर्ववादाविरोधिता ही किसी दर्शन की सर्वोच्चता का आधार हो, तो इसको प्रतिपादित करने का दावा कई एक दर्शन करते हैं। वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत वेदान्त में यह दावा तो अधिक व्यवस्थित रीति से किया जा सकता है। वल्लभ सम्प्रदाय के अधिकारी विद्वान् गोस्वामी श्याम मनोहर इस प्रकार का एक प्रयास करते भी हैं। अपने आलेख ब्राह्मिक याथार्थ्य और ब्रह्मवाद की सर्ववादानुरोधिता में शुद्धाद्वैत सम्मत ब्रह्मवाद (अखण्डब्रह्मवाद) को सर्वोच्च पद पर रखते हुए उसके नीचे सखण्ड ब्रह्मवाद और उससे भी नीचे मायावाद को वे रखते हैं। इस सोपान क्रमिकता का निर्धारण करने का आधार उनके अनुसार विभिन्न श्रुति वाक्यों की संगति है। उनका दावा है कि समस्त श्रुति वाक्यों की संगति अखण्डब्रह्मवाद के अनुसार हो जाती है, जबकि उससे कम श्रुति वाक्यों के साथ संगति हो पाती है, जब हम सखण्डब्रह्मवाद को सिद्धान्त के रूप में लेते हैं। इसके विपरीत मायावाद में बहुत से श्रुतिवाक्यों के साथ संगति नहीं बन पाती है।[35] आचार्य शंकर के सिद्धान्त को वैष्णव दार्शनिकों द्वारा दिया गया प्रचलित और प्रसिद्ध नाम है – मायावाद। इस प्रकार वे अद्वैतवाद में भी कम से कम तीन कोटियाँ करते हैं आचार्य शंकर का मायावाद, सखण्डाद्वैतवाद तथा अखण्डाद्वैतवाद। इसमें अखण्डाद्वैतवाद ही वाल्लभसिद्धान्त है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इस प्रकार से हम देखते हैं कि दर्शनों की सोपानीय व्यवस्था में समझने का प्रयास वस्तुतः विभिन्न दर्शन सम्प्रदायों में प्रतीयमान विरोध का समाधान करने के उद्देश्य से किया गया है। इसी कारण माधवाचार्य अप्रकट रूप से तो मधुसूदन सरस्वती अत्यन्त प्रकट रूप से नास्तिक दर्शनों को उस सोपानीय व्यवस्था में कहीं पर भी स्थान देने के लिए प्रयास नहीं करते। माधवाचार्य तो चार्वाक, बौद्ध तथा जैन को बस एक सीध में रख देते हैं। इनको इस क्रम में रखने का कोई यौक्तिक आधार नहीं दिखायी देता। मधुसूदन सरस्वती के लिए तो ये तीनों दर्शन नितान्त तिरस्कार्य हैं, असन्मार्ग का उपदेश दे रहे हैं, इस कारण उस सोपानीय व्यवस्था में इन दर्शनों के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता।

परन्तु इसी प्रकार की चेतना सर्वत्र नहीं है। हमने अभी उदयनाचार्य का अभिमत देखा, जिसके अनुसार चार्वाक आदि नास्तिक दर्शनों के लिए भी सोपानीय व्यवस्था में स्थान निर्धारित है। सामान्यतया यही देखा जाता है कि आस्तिक दार्शनिक केवल आस्तिक दर्शनों को ही सोपानीय व्यवस्था में रखने का प्रयास करते दिखायी देते हैं तो नास्तिक दार्शनिक केवल नास्तिक दर्शनों को ही। बहुधा तो केवल एक विशेष सम्प्रदाय की ही विभिन्न दृष्टियों को एक साथ किसी प्रकार से समावेशित करने का प्रयास उनका होता है। उदाहरण के रूप में बौद्ध परम्परा में मुख्य रूप से चार दर्शनों की चर्चा की जाती है — वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक। इनमें भी वैभाषिक और सौत्रान्तिक में तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से कोई बहुत अधिक सैद्धान्तिक अन्तर नहीं है। जहाँ वैभाषिक की दृष्टि में बाह्य धर्म प्रत्यक्ष सिद्ध हैं वहीं सौत्रान्तिक की दृष्टि में बाह्य धर्म अनुमेय हैं। इस कारण इस सूक्ष्म भेद को किनारे रखते हुए हम इन दोनों को एक साथ भी रख सकते हैं। मजेदार बात यह है कि ये चारों ही बौद्ध सम्प्रदाय अपने–अपने दर्शनों के आधार के रूप में बुद्ध के वचनों को ही प्रमाण के रूप में ग्रहण करते हैं। यह सुप्रसिद्ध है कि बुद्ध ने तीन बार धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था। इससे भी अधिक आश्चर्य जनक बात यह है कि इन तीनों ही धर्मचक्र के प्रवर्तनों में बुद्ध ने भिन्न–भिन्न उपदेश, एक दूसरे के विरोधी उपदेश दिये। इन विरुद्धार्थ बोधक उपदेशों की संगति ये सभी बौद्ध दार्शनिक लगाने का प्रयास करते हैं। कुछ उपदेशों को नेयार्थ तथा कुछ को नीतार्थ मानकर बुद्ध के अनुयायी इन दार्शनिकों ने बुद्ध के समस्त उपदेशों की संगति लगाने का प्रयास किया। यह पहेली सा दिखता है कि किस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कारण से बुद्ध स्वयं ही भिन्न–भिन्न प्रकार का उपदेश देते हैं? तो इसका समाधान यह दिया जाता है कि यही बुद्ध का उपाय कौशल्य है। जिस प्रकार से कोई वैद्य समस्त रोगियों को एक ही औषधि नहीं प्रदान करता, बल्कि उनके रोग तथा शरीर की स्थिति को ध्यान में रखते हुए भिन्न–भिन्न दवाएँ दिया करता है। उसी प्रकार बुद्ध भी एक कुशल चिकित्सक की तरह अपने शिष्यों की मानसिक स्थिति तथा क्षमता को दृष्टि में रखते हुए प्रमुख रूप से तीन प्रकार के उपदेश देते हैं – प्रथम ऐसे उपदेश जिन में बाह्य तत्त्वों की सत्ता की प्रधानता है, इनमें बाह्य तत्त्वों की स्वीकृति है। दूसरे प्रकार के उपदेश वे हैं जिनमें स्वभाव शून्यता का उपदेश दिया गया है। तीसरे प्रकार के उपदेश वे हैं जिन में बाह्य तत्त्वों का निषेध किया गया है। चूँकि ये तीनों ही प्रकार के उपदेश बुद्ध के मुख से ही आ रहे हैं, इस कारण इनमें से किसी एक को सही मानना तथा बाकी दोनों को बिलकुल ही असत्य ठहरा देना सम्भव नहीं है। परन्तु तीनों को एक समान भी तो नहीं रखा जा सकता। इस कारण बौद्ध विद्वानों ने एक मार्ग निकाला, एक को प्रधान या नीतार्थ तथा बाकी दोनों को गौण या ने यार्थ मान लिया जाये। इस प्रकार से सर्वास्तिवादियों (वैभाषिक व सौत्रान्तिकों) के लिए समस्त धर्मों की सत्ता को स्वीकार कर लेना भी सम्भव होता है क्योंकि उनके अनुसार बाकी दोनों दृष्टियाँ अभिधेय अर्थ में नहीं समझी जानी हैं। उनका तात्पर्य सांकेतिक है। इसी प्रकार माध्यमिकों के लिए यह स्वीकृति आसान होती है कि बुद्ध ने जब वस्तु मात्र की स्वभाव शून्यता का उपदेश कर दिया तो उसमें फिर कोई आन्तरिक या बाह्य धर्मों की सत्ता स्वीकार करने के लिए कोई अवसर शेष नहीं रहा। इस कारण वे उपदेश (प्रथम तथा तृतीय) आभिप्रायिक हैं। इसी के समतुल्य विज्ञानवादियों की दृष्टि भी सम्भव है, जब वे कहते हैं कि प्रथमतः बाह्य वस्तुओं की सत्ता को स्वीकार करते हुए, फिर स्वभाव शून्यता का उपदेश करने की बुद्ध की जो प्रवृत्ति है उस का निहितार्थ मात्र आन्तरिक धर्मों (विज्ञानमात्र) की सत्ता को प्रतिपादित करने से है। इस प्रकार से हम देख सकते हैं कि बौद्ध परम्परा में आन्तरिक रूप से बुद्ध के वचनों की संगति अपने सिद्धान्त के साथ लगाते हुए भी अन्य बौद्ध दर्शनों को भी नितान्त अप्रामाणिक नहीं माना जा रहा है। अपितु उनके भी प्रामाण्य को सापेक्षिक रूप से व्यवस्थापित करने का प्रयास किया गया है। विभिन्न दर्शनों को सापेक्षिक रूप से अलग–अलग सोपानों पर स्थापित करने का प्रयास वस्तुतः मधुसूदन सरस्वती द्वारा आस्तिक परम्परा में किये गये प्रयास के ही समतुल्य है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बीसवीं शताब्दी में कुछेक विद्वानों के द्वारा दर्शनों की सोपानीय क्रमिक व्यवस्था में कुछ अन्य भी अनूठी दृष्टियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। उदाहरण के रूप में राहुल सांकृत्यायन भारतीय दर्शन का स्वर्णयुग दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के दर्शन में देखते हैं। उनके अनुसार शास्त्रीय भारतीय दर्शनों में यदि कोई श्रेणी विभाग करना हो तो उनमें दिङ्नाग और धर्मकीर्ति का दर्शन ही सर्वोच्च मंच पर अवस्थित होगा।[36] यद्यपि दर्शनों की समग्रता में यदि सोपान क्रमिकता की व्यवस्था करनी हो तो वैज्ञानिक भौतिकवाद को वे सबसे ऊपर रखना पसन्द करेंगे क्योंकि केवल यही दर्शन है जो कल्पना की भावभूमि से परे वास्तविक धरातल पर अवस्थित है। राहुल बुद्ध के अनात्मवाद से वैज्ञानिक भौतिकवाद तक की यात्रा करते हैं, तथा इसी को उच्चतम दर्शन के रूप में मान्यता देते हैं।[37] ये दावे यहीं पर पूर्ण नहीं होते। इसके अलावा भी कई विद्वान् हैं जो इसी प्रकार के दावे करते हैं। टी. आर.वी. मूर्ति अपने ग्रन्थ द सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑफ बुद्धिज्म (केन्द्रीय बौद्ध दर्शन नाम से लेखक के द्वारा हिन्दी में अनूदित) में माध्यमिक को सर्वोच्च दर्शन के रूप में स्थापित करने का प्रयास करते हुए दिखायी देते हैं। उनका मानना है कि माध्यमिक दर्शनों का दर्शन है, समस्त दर्शनों का उच्च कार्यालय है।[38] सर्ववादाविरोधी होने का दावा माध्यमिक भी बहुत सफलता से कर सकते हैं क्योंकि उनके मत में समस्त दृष्टियाँ समान रूप से मिथ्या हैं तथा प्रज्ञा सभी दृष्टियों का निषेध है, यही शून्यता है। सभी दृष्टियों का निषेध करते हुए दर्शन को विशुद्ध विश्लेषण के रूप में व्यवस्थापित करते हुए माध्यमिक अपने दर्शन की सर्वोच्चता का दावा बहुत ही सफलता से कर सकता है तथा ऐसा दावा वह करता भी है।

इस प्रकार हमारे समक्ष दर्शनों के विभिन्न प्रारूप तथा अलग–अलग दर्शनों के उच्चता के दावे उपलब्ध हैं। सचमुच में मुझे तो लगता है कि जितने दर्शन हैं उच्चता के उतने ही दावे भी हैं। चार्वाक दर्शन भी अपनी उच्चता का दावा कर सकता है। बल्कि राहुल सांकृत्यायन ने इसका दावा किया भी है। उसी चार्वाक दर्शन को तो वे वैज्ञानिक भौतिकवाद के नाम से प्रस्तुत करते हैं। अम्बेडकर जब नवबौद्धयान की स्थापना और प्रवर्तना करते हैं तो बौद्ध दर्शन का एक प्रकार से वे चार्वाकीकरण ही कर रहे होते हैं। इसके पीछे भी वही दृष्टि कार्य कर रही होती है कि यही दर्शन सर्वोच्च दर्शन है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वस्तुतः इस प्रकार से दर्शनों को व्यवस्थित करने के मूल में एक दूसरे के धुर विरोधी परस्पर व्याघाती दर्शनों के मध्य एक समन्वय करने की भावना छुपी रहती है। इसी भावना से दर्शनों का परस्पर समन्वय करने के लिए विभिन्न रीतियाँ दिखायी देती हैं। इस विचारधारा में एक अन्य विचार भी अन्तर्निहित है कि दर्शन का कार्य हम को सत्य से परिचित कराना है,[39] वास्तविकता का निदर्शन कराना है। ऐसी परिस्थिति में वही दर्शन सच्चा दर्शन हो सकता है जो हम को सत्य की वास्तविक छवि प्रदान करता हो। यदि दर्शन सत्य का निदर्शन है और समस्त दर्शन सत्य का ही चित्र प्रस्तुत करने का दावा करते हैं, तो हमारे समक्ष तीन विकल्प शेष बचते हैं। पहला विकल्प यह है कि समस्त दर्शन सत्य का झूठा चित्र प्रस्तुत करते हैं, इस कारण समस्त दर्शन मिथ्या हैं, झूठे हैं, सत्य विचारों तथा अवधारणाओं से परे है, दर्शन का कार्य हम को ज्ञान की इसी सीमा का निदर्शन करा देना है। दूसरा विकल्प यह है कि समस्त दर्शन सत्य का आधा अधूरा ही सही लेकिन सच्चा चित्र प्रस्तुत करते हैं, इस कारण समस्त दर्शन सच्चे हैं, भले ही उनमें सच्चाई की मात्रा थोड़ी सी है। दर्शन सच्चा तभी हो पाता है जब हम इन सभी दृष्टियों को मिला देते हैं। तीसरा विकल्प द्वितीय विकल्प से समान ही है, परन्तु उनमें थोड़ा अन्तर भी है, वह यह है कि समस्त दर्शन सत्य का सच्चा चित्र प्रस्तुत करते हैं, परन्तु उनकी सच्चाई सापेक्षिक है, उन सभी दृष्टियों को मिलाया नहीं जा सकता है। इसी कारण समस्त दर्शन एक ही कोटि पर नहीं रखे जा सकते। कुछ अधिक सच्चे हैं तो कुछ कम सच्चे। सभी दर्शन हमको सच्चाई के समीप ले जाते हैं। परन्तु कोई एक दर्शन है जो सच्चाई से नितान्त परिचित कराता है। इस कारण जो दर्शन हमको सत्य के जितने समीप तक ले जाता है, उस दर्शन की सापेक्षिक सत्यता उतनी ही अधिक होती है। प्रथम विकल्प माध्यमिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। पहले पक्ष को लेकर माध्यमिक का पक्ष समझा जा सकता है। माध्यमिक का दावा यही है कि हर दृष्टि एक मिथ्या दृष्टि है। इसीलिए वह हमेशा यही दावा करता है कि उसका कोई भी दर्शन नहीं है। दर्शन का कार्य केवल मिथ्या दृष्टियों का मात्र अपसारण है। परन्तु इस पक्ष के साथ समस्या यह है कि हमको यह मानना पड़ेगा कि प्रत्येक दर्शन मिथ्या है। माध्यमिक के अनुसार समस्त दृष्टियाँ मिथ्या हैं और सत्य विचारातीत है। सत्य तक हमारी पहुँच नहीं है। सत्य तक हम निषेध करते हुए ही पहुँच सकते हैं। कोई विधानात्मक मार्ग नहीं है, जो हमको सत्य तक पहुँचा सके।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दर्शन का उच्चतम मानक है दृष्टियों से शून्य होना। परन्तु इस मानक के सही होने का आधार क्या होगा? इस प्रश्न का उत्तर माध्यमिक नहीं दे सकता। वस्तुतः तो वह किसी भी प्रश्न का उत्तर देने के लिए इच्छुक नहीं है। किसी प्रश्न का उत्तर देने का तात्पर्य होगा कि स्वयं को एक पक्ष बनाना, जो कि वह करना नहीं चाहता।

दूसरा विकल्प जैन दृष्टि से प्रस्तुत होता है कि सत्य में समस्त दृष्टियों का समाहार करना है। इस दृष्टि के साथ समस्या यह है कि समस्त दृष्टियों को सत्य मानना आवश्यक है क्योंकि सत्य तथा मिथ्या में वस्तुतः कोई गुणगत भेद नहीं है, केवल मात्रागत भेद है। समस्त दृष्टियों का समाहार एक नवीन दृष्टि के रूप में ही उपस्थित होता है। उसको भी साथ में जोड़ते हुए दृष्टियों की एक लम्बायमान धारा बनती हुई दिखायी देगी। दूसरे दर्शन हमको सत्य से परिचित कराता है यह दावा तो आज बिलकुल ही निरस्त किया जा चुका है।

तीसरे विकल्प को ही ग्रहण करते हुए वस्तुतः समस्त दार्शनिक अपने–अपने पक्ष के प्रति आग्रही होते हैं। यह ऐसी दृष्टि है कि इसके आधार पर ही सामान्यतया दार्शनिक अपने दर्शन की श्रेष्ठता का दावा करते हैं। परन्तु इस दृष्टि के साथ समस्या यह है कि सभी दर्शन अपने लिए अलग–अलग मानक लेकर चलते हैं। वस्तुतः हम किसी भी दर्शन के अनुयायी तभी तक रह पाते हैं जब तक वह दर्शन हमको बाकी सभी दर्शनों से उच्चतर लगता है। अब किसी दर्शन का उच्चतर लगना और उस दर्शन का उच्चतर या उच्चतम दर्शन होना दो अलग–अलग बाते हैं। किसी दर्शन के लिए व्यवहार का विरोध सबसे बड़ा भय है जिस के कारण वह दर्शन ऐसे सिद्धान्त भी स्वीकार कर लेता है जो युक्ति संगत नहीं दिखते। तो किसी दर्शन के लिए तर्क सबसे बड़ा आधार है, तर्क से विरुद्ध होने पर अनुभव को भी छोड़ा जा सकता है। किसी के लिए शास्त्रयोनित्व, किसी के लिए लोकानुभव से संगत प्रत्यक्ष, तो किसी के लिए युक्तियों की सुसंगति सबसे बड़ा आधार है। आज का दार्शनिक मधुसूदन सरस्वती की इस बात पर विश्वास नहीं कर पाता कि वेद से विरोधी होने के कारण बौद्ध, लोकायत तथा जैन दर्शनों को दर्शन नहीं माना जा सकता।

इस तरह के दावे से केवल हमको दावा करने वाले दार्शनिक की रुझान का पता चलता है इससे अधिक कुछ नहीं; क्योंकि सभी सुचिन्तित दर्शन वस्तुतः एक दूसरे के मतों को काटे बिना ही अपने मत को समानान्तर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

रूप से स्थापित करते हुए आगे बढ़ जाते हैं। आचार्य शंकर के शब्दों को थोड़े परिवर्तन के साथ उद्धृत किया जा सकता है। आचार्य शंकर कहते हैं कि न हि प्रमाणं प्रमाणान्तरेणविरुध्यते, एक प्रमाण दूसरे प्रमाण से विरुद्ध नहीं होता। यह कहा जा सकता है कि कोई भी सुचिन्तित दर्शन किसी दूसरे सुचिन्तित दर्शन का विरोध नहीं करता। एक दर्शन द्वितीय दर्शन का विकल्प होता है, विरोधी नहीं। इस कारण दर्शनों की सोपानीय व्यवस्था भिन्न–भिन्न सुचिन्तित दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में परिवर्तित होने के लिए बाध्य है। एक दार्शनिक अपनी बौद्धिक अभिवृत्ति के अनुसार एक विशिष्ट दर्शन का चयन करता है, तथा वही दर्शन उस व्यक्ति का वैचारिक गोत्र तथा उच्चतम दर्शन बन जाता है।

परन्तु इस प्रश्न पर विचार अवश्य किया जाना चाहिए कि इन सब वैचारिक पूर्वाग्रहों को किनारे रखते हुए क्या यह विचार किया जा सकता है या नहीं कि कौन सा दर्शन उच्चतम दर्शन है? परन्तु इस प्रश्न को सुलझाने के लिए हमको इस प्रश्न का उत्तर उसके पहले ही खोजना होगा कि किसी भी दर्शन को उच्चतम दर्शन मानने के लिए हमारे पास मानक क्या होगा? क्या उस मानक के निर्धारण में हम निरपेक्ष रह कर विचार कर पायेंगे? ऊपर हमने यही देखा है कि इन समस्त आचार्यों ने अपने–अपने दर्शन को उच्चतम दर्शन के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। परन्तु वे उच्चतम दर्शन मानने के लिए मानक का निर्धारण करने में निष्पक्षता बरकरार नहीं रख सके। इसका कारण यह था कि वे एक विशेष दर्शन सम्प्रदाय के साथ स्वयं को जोड़कर देखते हुए उसी के चश्मे से सभी दर्शनों को देख रहे थे। सम्भवतः यह कार्य आज के दार्शनिक अधिक अच्छी तरह से कर सकें।

दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी (उ.प्र.) 221005

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *श्रीमद्बादरायणशङ्कर सुरेश्वराचार्यकृतमर्यादं वेदान्त दर्शनं दर्शनेषु सर्वेषु दर्शनीयतमं दर्शनम्। गौडब्रह्मानन्दसरस्वती, न्यायरत्नावली, सिद्धान्त बिन्दु व्याख्या पृ.1–2, महेश अनुसन्धान संस्थान, वाराणसी 1997*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

2. अथ सर्वेषां शास्त्राणां भगवत्येव तात्पर्यं साक्षात्परम्परयावेति समासेन तेषां प्रस्थान भेदोऽत्रोद्दिश्यते। मधुसूदन सरस्वती, प्रस्थान भेद, पृ.1, वाणी विलास प्रकाशन, श्रीरङ्गम्, 1912
3. सर्वेषां च सङ्क्षेपेण त्रिविध एव प्रस्थानभेदः। तत्रारम्भवाद एकः। परिणामवादो द्वितीयः। विवर्तवादस्तृतीयः। वहीं, पृ.18
4. पार्थिवाप्यतैजसवायवीयाश्चतुर्विधाः परमाणवो द्व्यणुकादिक्रमेण ब्रह्माण्ड पर्यन्तंजगदारभन्ते। असदेव कार्यंकारकव्यापारादुत्पद्यत इति प्रथमस्तार्किकाणाम्, मीमांसकानाञ्च। वहीं, पृ. 18—19
5. सत्त्वरजस्तममोगुणात्मकं प्रधानमेव महदहङ्कारादिक्रमेण जगदा कारेण परिणमते। पूर्वमपि सूक्ष्मरूपेणसदेव कार्यकारणव्यापारेणाभिव्यज्यत इति द्वितीयः पक्षः साङ्ख्ययोगपातञ्जलपाशुपतानाम्। वहीं, पृ. 19
6. ब्रह्मणः परिणामो जगदिति वैष्णवानाम्। वहीं, पृ. 19
7. स्वप्रकाशपरमानन्दाद्वितीयं ब्रह्म स्वमायावशान्मिथ्यैवजगदाकारेण कल्पत इति तृतीयः पक्षो ब्रह्मवादिनाम्। वहीं, पृ. 19
8. सर्वेषांहि प्रस्थानकर्तृणां मुनीनां विवर्तवादपर्यवसानेनाद्वितीये परमेश्वर एव तात्पर्यम्। वहीं, पृ. 19
9. विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमिर्वेदान्तवादे परिणामवादः। व्यवस्थितेऽस्मिन् परिणामवादे स्वयं समायाति विवर्तवादः।। सर्वज्ञात्ममुनि, संक्षेपशारीरक 2—61
10. वेदबाह्यत्वात्तेषांम्लेच्छादिप्रस्थानवत्परम्परयापि पुरुषार्थानुपयोगित्वा दुपेक्षणीयमेव। वहीं, पृ. 2
11. सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति तद्व्युत्पाद्यते। न्यायबिन्दुप्रकरण, प्रथम वाक्य।
12. न हितेमुनयोभ्रान्ताः सर्वज्ञत्वात्तेषाम्। वहीं, पृ. 10
13. किन्तु बहिर्विषय प्रवणानापाततः पुरुषार्थे प्रवेशो न सम्भवतीतिनास्तिक्य वारणाय तैः प्रकारभेदाः प्रदर्शिताः। वहीं, पृ. 10
14. उपास्यमाने च तस्मिन् प्रथमं बहिरर्था एव भासन्ते, यानाश्रित्य कर्ममीमांसोपसंहारः चार्वाकमतसमुत्थानञ्च। तत्प्रतिपादनार्थं पराञ्चि खानि इत्यादि। तद्धानाय परंकर्मभ्य इत्यादि। उदयनाचार्य, आत्मतत्त्व विवेक, समापनोप क्रम।
15. अथार्थाकारः, यमाश्रित्य त्रैदण्डिकमतोपसंहारोयोगाचारसमुत्थानञ्च। तत्प्रतिपादनार्थम् आत्मैवेदंसर्वम् इत्यादि। तद्धानार्थम् अगन्धमरसम् इत्यादि। वहीं
16. अथार्थभावः, यमाश्रित्य वेदान्तद्वारमात्रोपसंहारः शून्यनैरात्म्य समुत्थानञ्च। तत्प्रतिपादनार्थम् असदेवेदमग्र आसीत् इत्यादि। तद्धानार्थम् अन्धः तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनोजनाः इत्यादि। वहीं
17. ततो विवेको यमाश्रित्य साङ्ख्यमतोपसंहारःशक्तितत्त्वसमुत्थानञ्च। तत्प्रति पादनार्थं प्रकृतेः परस्तात् इत्यादि। तद्धानाय नान्यत् सत् इत्यादि। वहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

18. ततः केवलमात्मा प्रकाशते, यमाश्रित्याद्वैतमतोपसंहारः। तत्प्रतिपादनार्थं यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह इति। तद्धानार्थं नाद्वैतंनापि द्वैतम् इत्यादि। वहीं
19. ततः समस्त संस्काराभिभवात् केवलोऽपि न विकल्प्यते, यमाश्रित्य चरमवेदान्तोप संहारः। तत्प्रतिपादनार्थं न पश्यतीत्याहुरेकी भवति इत्यादि। साचावस्था न हेया, मोक्षनगरगोपुरायमाणत्वात् निर्वाणंतुतस्याः स्वयमेव यमाश्रित्य न्यायदर्शनोप संहारः। वहीं
20. एतेऽधिकारितां वीक्ष्य सर्वे शास्त्र प्रवर्तकाः। सर्वसिद्धान्त सङ्ग्रह, उपोद्घात प्रकरण श्लोक 24
21. वेदाप्रामाण्य सिद्धान्ता बौद्धलोकायतार्हताः।
युक्त्या निरसनीयास्ते वेदप्रामाण्यवादिभिः।। वहीं श्लोक 25
22. यद्यपि दर्शनानि निजनिजमतभेदेन परस्परं विरोधं भजन्ते तथापि तैरुच्य मानाः सन्ति तेऽपिवस्त्वंशाः के सद्भूताः सम्भवेयुः येषां मिथः सापेक्षाः सन्तः समीचीनता मञ्चन्ति। .... तेसर्वेऽपि सापेक्षाः सन्तः परमार्थसत्यतां प्रतिपद्यन्ते, निरपेक्षास्त्वन्येन निरस्यमानानभोनलिनायन्त इत्यलंविस्तरेण। हरिभद्रसूरि, षड्दर्शनसमुच्चय गुणरत्न सूरिवृत्तिः पृ. 3–4, सम्पादक महेन्द्र कुमार जैन, 1972 भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, कलकत्ता
23. तम्हासव्वेहि णयामिच्छादिट्ठीसपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिया उणहवंतिसम्मत्तसब्भावा।।
सिद्धसेन दिवाकर, सन्मति प्रकरण 1–21
24. स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम्।
परस्परंविरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते।। गौड़पाद, माण्डूक्य कारिका 3–17
25. द्रष्टव्य तन्त्रालोक 35वाँ अध्याय सर्वशास्त्रमेलन प्रकरण
26. बहुसर्वज्ञपूर्वत्वे न मानं चास्ति किञ्चन। तन्त्रालोक 35.13
27. भोगापवर्गतद्धेतुप्रसिद्धिशतशोभितः। तद्विमर्श स्वभावोऽसौ भैरवः परमेश्वरः।। तन्त्रालोक 35.14
28. ततश्चांशांशिकायोगात् साप्रसिद्धिः परम्पराम्। शास्त्रं वाश्रित्य वितत्तालोकान् संव्यवहारयेत्।। तन्त्रालोक 35.15
29. तयैवाशैशवात् सर्वेव्यवहारधराजुषः। सन्तः समुपजीवन्ति शैवमेवाद्यमागमम्।। अपूर्णास्तुपरेतेन न मोक्षफलभागिनः। उपजीवन्ति यावत्तुतावत् तत्फल भागिनः।। तन्त्रालोक 35.16–17
30. एक एवागमश्चायं विभुनासर्वदर्शिना। दर्शितो यः प्रवृत्ते च निवृत्ते च पथिस्थितः।। तन्त्रालोक 35.23
31. धर्मार्थकाममोक्षेषुपूर्णापूर्णादिभेदतः। विचित्रेषु फलेष्वेक उपायः शाम्भवागमः।। तस्मिन् विषयवैविक्त्याद्विचित्रफलदायिनि। चित्रोपायोप देशोऽपि न विरोधा वहो भवेत्।। तन्त्रालोक 35.24–25

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

32. पुष्पेगन्धस्तिलेतैलंदेहे जीवोजलेऽमृतम्। यथातथैव शास्त्राणां कुलमन्तः प्रतिष्ठितम्।। तन्त्रालोक 35.34
33. एकस्मादागमाच्चैते खण्डखण्डाव्यपोद्धृताः। लोकेस्युरागमास्तैश्च जनो भ्राम्यति मोहितः।। तन्त्रालोक 35.37
34. अनेकागमपक्षेऽपिवाच्या विषयभेदिता। अवश्यमूर्ध्वाधरतास्थित्या प्रामाण्य सिद्धये।। अन्यथा नैव कस्यापि प्रामाण्यं सिध्यति ध्रुवम्।। तन्त्रालोक 35.38–39
35. अत एव महाप्रभु के मत में ब्रह्म के अखण्डाद्वैतवाद की तुलना में सखण्डा द्वैतवाद कुछ न्यून कक्षा पर मान्य किया गया है। .... उससे भी अपकृष्ट मायावाद को माना गया है। गोस्वामी श्याम मनोहर, ब्राह्मिक याथार्थ्य और ब्रह्मवाद की नानावादानुरोधिता, पृ.13, मुम्बई, 2016
36. राहुल सांकृत्यायन भारतीय दर्शन का चरम विकास असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति में देखते हैं। द्रष्टव्य दर्शनदिग्दर्शन बीसवाँ अध्याय, किताब महल, 1942
37. द्रष्टव्य पृ. 44, वैज्ञानिक भौतिकवाद, राहुल सांकृत्यायन, आधुनिक पुस्तक भवन, कलकत्ता, 1951 चतुर्थ संस्करण
38. माध्यमिक प्रस्थान दर्शन के उस उच्चकार्यालय की भूमिका निभाता है जो समय–समय पर स्वयं अपनी जाँच परख करता रहता है। टीआरवी मूर्ति, अनुवादक सच्चिदानन्द मिश्र, केन्द्रीय बौद्ध दर्शन, पृ. 95 मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2019
39. यह दावा लगभग निरस्त हो चुका है कि दर्शन हम को सत्य से परिचित कराता है। पश्चिमी दर्शन परम्परा के परिप्रेक्ष्य में यह बात लगभग सिद्ध सी हो चुकी है कि दर्शन हमको सत्य का ज्ञान प्रदान करने का दावा नहीं कर सकता। सत्य का ज्ञान प्रदान करने का कार्य केवल विज्ञान का है। परन्तु यह तभी स्वीकार किया जा सकता है यदि हम इस वक्तव्य से अपने आपको सहमत कर लें कि सत्य वही है जिससे विज्ञान हमको परिचित कराता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बौद्धदर्शन में त्रिकायव्यवस्था

मूल लेखक : आचार्य ज्ञानश्रीमित्र
हिन्दी रूपान्तरकार : वृजकिशोर त्रिपाठी

वेदान्त एवं पुराणदर्शन में स्वीकार्य परब्रह्म, विष्णु और विष्णु के अवतार (यथा राम, कृष्ण) के समान बौद्धदर्शन के विकासक्रम में भी त्रिकाय (धर्मकाय, निर्माणकाय और संभोगकाय) की व्यवस्था की गयी है। महायान और हीनयान के पारस्परिक भेद इसी त्रिकाय के सिद्धान्त को लेकर है। हीनयान निकायों में स्थविरवादियों ने त्रिकाय के सम्बन्ध में कुछ विशेष नहीं कहा। वे बुद्ध को धर्म का प्रचार करने वाला व्यक्ति मानते थे। "भगवा अर्हं सम्मा सम्बुद्ध विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविद् अनुत्तरो पुरिशधम्मसारथी देवमनुस्सानं सत्या बुद्धो भगवा।"[1] मृत्यु के कुछ समय पहले बुद्ध ने आनन्द से कहा था कि 'मैने जिस धर्म और विनय का उपदेश किया है मेरी मृत्यु के पश्चात् वही तुम्हारे लिए शिक्षा का काम करेगा।' धर्मकाय की कल्पना यहीं से आरम्भ होती है, परन्तु धर्मकाय का अर्थ अभी तक बौद्ध धार्मिक नियमों का समुदायमात्र मानते थे, अन्य कुछ नहीं। इस प्रकार थेरवादियों में यही (भगवान बुद्ध और धार्मिक नियम) द्विविध कल्पना बनी रही।

सर्वास्तिवादियों में आचार्य वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश में धर्मकाय की कल्पना को उद्भुत किया। वे कहते हैं कि कोई भिक्षु जब बुद्ध की शरण में जाता है तो उसका अर्थ यह नहीं कि वह बुद्ध के शरीर के शरण में जाता। वह उन गुणों की शरण में जाता है जिसके आश्रय भगवान बुद्ध हैं। इस प्रकार वसुबन्धु बोधिपक्षीय धर्म और भगवान बुद्ध के विशुद्ध व्यक्तित्व को धर्मकाय के रूप में कल्पित करते हैं।

त्रिकाय की कल्पना का विकास अनेक शताब्दियों में धीरे–धीरे हुआ। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता में उपलब्ध महायान सिद्धान्त के अनुसार काय दो ही थे–(1) रूप (निर्माण) काय–जिसके अन्तर्गत सूक्ष्म तथा स्थूल

उन्मीलन - वर्ष 34, अंक 2, जुलाई-दिसम्बर 2020
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शरीरों का अन्तर्भाव है। यह काय प्रत्येक प्राणी के लिए है। (2) धर्मकाय– इसका प्रयोग दो अर्थों में होता है– (क) बुद्ध का निर्माण करने वाले समस्त धर्मों से बना शरीर, और (ख) परमार्थ (तथता) जो इस जगत का मूल सिद्धान्त है।

विज्ञानवादियों ने इस द्विविध काय की व्यवस्था को त्रिविध बना दिया। उन्होंने स्थूल रूपकाय को सूक्ष्मरूपकाय से अलग कर दिया। प्रथम का नाम हुआ–निर्माणकाय और दूसरे का संभोगकाय।

बौद्धों के चार दार्शनिक सिद्धान्तों में बुद्ध के कायों की भिन्न–भिन्न व्यवस्था है। यद्यपि सभी बौद्ध दार्शनिक सिद्धान्त कायव्यवस्था स्वीकार करते हैं फिर बुद्धत्व प्राप्त करने के मार्ग तथा मूल ज्ञेयों की स्थापना करने पर गम्भीर और उदार का स्थूल–सूक्ष्म भेद होने से कायों की संख्या तथा स्वरूप के विषय में सूक्ष्म एवं स्थूल भेद है। मार्ग की अवस्था में बोधिसत्त्व दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, उपाय, प्रणिधान, बल तथा ज्ञान पारमिताओं का अभ्यास करते हैं। असंख्य प्रणिधान और पारमिताओं के कुशल उपायों का अभ्यास करने से वे विस्तृत एवं गम्भीर तत्त्वज्ञान में समरस प्रविष्ट होकर अनेक प्रकार के आनन्द का दृढ अनुभव करते हैं। इसका परिणाम है–स्वार्थ एवं परार्थ के पर्यन्तफल रूपकाय और धर्मकाय की प्राप्ति।

वैभाषिक मतानुसार कायव्यवस्था –

इस मत के अनुसार सर्वप्रथम शास्ता शाक्यमुनि ने बोधिचित्तोत्पाद कर त्रिमहाकल्प तक संभार अर्जित किया। तत्पश्चात् शतकल्प तक लक्षणविपाक के लिए विशेष संभार का संचय किया फिर देवपुत्र श्वेतकेतु के रूप में जन्म ग्रहण किया। तदनन्तर जम्बूद्वीप में आकर शुद्धोदन के पुत्र के रूप में जन्म लिया। उन्होंने अपने जीवन के द्वादश कार्यों में मारविजय तक बोधिसत्त्व का सम्भार मार्ग कहते हैं। सिद्धार्थ पैंतीस वर्ष की अवस्था में बोधगया में आशाढ़ पूर्णिमा की मध्यरात्रि में समाहित अवस्था में बोधिसत्त्व के प्रयोग, दर्शन एवं भावना मार्गों को एक ही आसन पर बैठकर प्राप्त किया। तत्पश्चात् रात्रि के चतुर्थ याम में अशैक्ष्यमार्ग का साक्षात्कार कर बुद्धत्व प्राप्त कर धर्मचक्रप्रवर्तन एवं परिनिर्वाण प्राप्त किया।

वैभाषिक बुद्ध के अनास्रवज्ञान को बुद्ध मानते हैं। बुद्धरूपकाय दुःखसत्य होने से बुद्ध नहीं है, अत एव इनके मत में निर्माणकाय नाममात्र के लिए है। वे संभोगकाय, श्रेष्ठ निर्माणकाय एवं ज्ञानकायों को स्वीकार नहीं करते फिर भी स्वार्थ, परार्थ एवं कार्यसम्पत्ति तीनों गुण बुद्ध में निहित हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यथा,

य: सर्वथा सर्वहतान्धकार:
संसारपंकाज्जगदुज्जहार।
तस्मै नमस्कृत्य यथार्थशासने[2] ..... इत्यादि।

स्वार्थ एवं परार्थसम्पत्ति बुद्ध के जीवनकाल में तो कार्यसम्पत्ति धर्म के रूप में अब भी निरन्तर विद्यमान है।

सौत्रान्तिक मतानुसार काय व्यवस्था –

सौत्रान्तिक मत के भी आधार (दो सत्य), मार्ग (प्रज्ञोपाय) तथा फल की व्यवस्था वैभाषिक से अधिक भिन्न नहीं है। फल की अवस्था में वैभाषिक सर्वज्ञता के व्यवहार को स्वीकार नहीं करते हैं, परन्तु सौत्रान्तिक सर्वज्ञता को अंगीकार करते हैं। वैभाषिकों का मत है कि बुद्ध विचारते समय समस्त धर्मों को जानते हैं, परन्तु एक ही समय में उनमें समस्त ज्ञेयों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता।

सौत्रान्तिक के मतानुसार तथागत एक क्षण में सभी ज्ञेयों को करतलगत आमलक की भाँति प्रत्यक्षत: जानते हैं। अन्य कार्य की व्यवस्था वैभाषिकों की तरह है।

वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक दोनों पर्यन्तत्रियान की सिद्धि को मानते हैं। वे श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और बोधिसत्त्वों को निरुपधिशेष–निर्वाण प्राप्त होने पर पर्यन्त प्राप्य को आलम्ब मानते हैं। सामान्यत: 'संसार के कारण समस्त क्लेशों का क्षय या प्रहाणगुण' निर्वाण कहलाता है। दु:खस्कन्ध की अविच्छिन्न संतति की अवस्था को सोपधिशेष–निर्वाण तथा दु:खस्कन्ध से विच्छिन्न संतति की अवस्था को निरुपधिशेषनिर्वाण कहते हैं। अर्हत की मृत्यु के पश्चात् दु:खस्कन्ध की सन्तति विच्छिन्न हो जाने पर उसके निरुपधिशेष निर्वाण की प्राप्ति की तरह बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद बुद्ध और बुद्ध–स्कन्ध की सन्तति के विच्छिन्न हो जाने से बुद्ध का अवतार ग्रहण एवं प्राणियों का कल्याण सम्भव नहीं है। फलस्वरूप यावज्जीवन बुद्ध एवं परिनिर्वाण के अनन्तर उनका धर्म यही दो कल्पनाएं इनके मत में भी मान्य हैं।

विज्ञानवाद के मतानुसार कायव्यस्था –

विज्ञानवाद दो प्रकार का है – आगमानुयायी और युक्त्यनुयायी। आगमानुयायी विज्ञानवादी भी वैभाषिक और सौत्रान्तिकों की भाँति पर्यन्तत्रियानसिद्धि को स्वीकार करते हैं। आगमानुयायी पर्यन्त–एकयान में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बुद्ध द्वारा दर्शित सभी सूत्रों को नेयार्थ मानते हैं किन्तु भगवान के परिनिर्वाण के बाद भी वे विनेयजनों के हित के लिए आकस्मिक रूपकायों में प्रकट होते हैं। ये काय चार प्रकार के हैं – स्वभावकाय, ज्ञानधर्मकाय, सम्भोगकाय और निर्माणकाय।

युक्त्यनुयायी विज्ञानवाद एवं माध्यमिकनय में कायव्यवस्था –

युक्त्यनुयायी विज्ञानवादी एवं माध्यमिक, त्रियानों में से महायान को ही एक पर्यन्तयान मानते हैं। बुद्धत्व पद प्राप्ति ही पर्यन्तप्राप्य है। इनके मतानुसार श्रावक तथा प्रत्येकबुद्ध के निरूपधिशेष निर्वाण प्राप्त होने पर भी अन्तिम उपलब्धि नहीं होती क्योंकि उस समय भी चित्तसन्तति विच्छिन्न नहीं होती। अतः भगवान बुद्ध, श्रावक, प्रत्येक बुद्ध एवं अर्हतों को पुनः महायान में प्रवेश करने के लिए प्रेरित करते हैं। उन्हें मार्ग में प्रविष्ट होकर त्रिकल्प तक संभार का संचय कर बुद्ध का पद प्राप्त करना पडता है। जिस जन्म में बुद्धत्व प्राप्त होता है, उस जन्म के उस व्यक्ति को चरमभविक बोधिसत्त्व कहते हैं। वह उस जन्म में कामधातु या अरूपधातु में उत्पन्न नहीं होता। वह केवल रूपधातु के अकनिष्ठ देवलोक में उत्पन्न होता है। वहाँ उत्पन्न होकर उसी भव में वह बुद्ध हो जाता है। अकनिष्ठ भूमि के चरमभविक बोधिसत्त्व को जब उसी जीवन में बुद्धत्व या सर्वज्ञज्ञान प्राप्त हो जाता है, तो उसे 'सम्भोगकाय' काय कहते हैं। यह यावत्संसार वहीं स्थित रहता है। चरमभविक बोधिसत्त्व जब सम्भोगकाय के रूप में परिणत हो जाता है, तब अनन्त जीवों का कल्याण करने के लिए उसके अनेकों लोकों में अनेक अवतार होते हैं, जिन्हें 'निर्माणकाय' कहते हैं। सम्भोगकाय एवं निर्माणकाय की चित्तसन्तति या चित्तधारा एक ही होती है, केवल शरीर दो होते हैं। सम्भोगकाय एवं निर्माणकाय में जो सर्वज्ञज्ञान होता, उसे 'ज्ञानधर्मकाय' कहते हैं। ज्ञानधर्मकाय जो परमविशुद्ध ज्ञान होता है और जिसमें किसी प्रकार के मल (दोष) या दौष्ठुल्य नहीं होते, उसमें समस्त क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरण से रहितता होती है। उस आवरणों से रहितता को 'स्वभावधर्मकाय' कहते हैं। इस प्रकार विज्ञानवाद में चतुर्विध बुद्धकाय माने जाते हैं – स्वभावकाय, ज्ञानधर्मकाय, सम्भोगकाय एवं निर्माणकाय।

स्वभावकाय–हेतु और प्रत्ययों द्वारा अनिर्मित बुद्ध काय को स्वभावकाय कहते हैं। स्वभावकाय दो प्रकार का है – स्वभावविशुद्ध–स्वभावकाय और आगन्तुकविशुद्धस्वभावकाय। इनमें पहला विज्ञान की धर्मता की तरह है और दूसरा आवरणप्रहाण निरोधसत्य की तरह। परन्तु

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विज्ञानवादियों ने स्वभावविशुद्धस्वभावकाय को स्वीकार नहीं किया है। वे अपने सिद्धान्त के अनुसार सर्वाकारज्ञता के धर्मतास्वरूप काय को मान नहीं सकते। इसका कारण यह है कि सर्वज्ञज्ञान में स्थित बाह्यार्थशून्यता उस सर्वज्ञज्ञानके विषय रूप आदि की भी बाह्यार्थशून्यता है। ज्ञातव्य है कि इस मत में रूप और रूप को जानने वाला चक्षुर्विज्ञान ये दोनों रूप के परतन्त्रलक्षण हैं और दोनों की शून्यता एक ही है। इसीलिए रूप को जानने वाला सर्वज्ञज्ञान भी रूप का परतन्त्रलक्षण है और उसमें स्थित शून्यता रूप की भी शून्यता है। ऐसी स्थिति में जब कि सर्वज्ञज्ञान में स्थित शून्यतारूप में भी विद्यमान है, तो वह धर्मकाय कैसे हो सकती है। अर्थात् सर्वज्ञज्ञान में स्थित शून्यता धर्मकाय नहीं है।

ज्ञानधर्मकाय अथवा धर्मकाय– समस्त परमार्थ एवं सावृत अर्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को धर्मकाय कहते हैं। जैसे एक सामान्य व्यक्ति में चित्त (चेतनांश) और शरीर(जडांश) दोनों होते हैं, उसी प्रकार बुद्ध में भी ये दोनों होते हैं। उनमें से चित्त(चेतनांश) धर्मकाय है तथा उनके सम्भोगकाय और निर्माणकाय ये शरीरस्थानीय हैं। सांसारिक अवस्था में व्यक्ति के चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञान रूप, शब्द आदि विभिन्न विषयों में प्रवृत्त (चेतनांश) होते रहते हैं। उसका आलयविज्ञानं समस्त दौष्ठुल्यों का आश्रय हुआ करता है। क्लिष्ट मनोविज्ञान, जो एक विषम विज्ञान है, वह सर्वदा आलयविज्ञान को आत्मत्वेन ग्रहण करता है। बुद्धावस्था में इन समस्त विज्ञानों की समाप्ति हो जाती है और उनके स्थान पर नए–नए विज्ञानों का उत्पाद हो जाता है। इस प्रक्रिया को 'आश्रयपरावृत्ति' कहते हैं। जैसे सांसारिक अवस्था में आलयविज्ञान समस्त विज्ञानों का आश्रय हुआ करता है, उसी प्रकार बुद्धावस्था में सर्वज्ञज्ञान ही उनके समस्त ज्ञानों का आधार होता है और उसमें समस्त बुद्धगुण विद्यमान रहते हैं। आलयविज्ञान के स्थान पर बुद्धावस्था में सर्वज्ञज्ञान उत्पन्न होता है, जो अप्रतिष्ठित निर्वाण का आश्रय हुआ करता है। क्लिष्ट मनोविज्ञान के स्थान पर समता ज्ञान का उत्पाद होता है, जो समस्त धर्मों को समानरूप से शून्य जानता है। सांसारिक अवस्था के चक्षुरादिविज्ञानों के स्थान पर अतिविशुद्ध चक्षुरादिविज्ञान उत्पन्न होते हैं, जो एक–एक भी समस्त धर्मों और उसकी शून्यता को जानते हैं। ये समस्त ज्ञान सामूहिकरूप से 'ज्ञानधर्मकाय' कहलाते हैं। इस ज्ञानकाय में सर्वज्ञज्ञान ही प्रमुख है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विशेष– ज्ञानधर्मकाय और उपर्युक्त स्वभावविशुद्धस्वभाव (धर्म) काय तथा आगन्तुक विशुद्ध स्वभाव– (धर्म) काय के भेद से दो प्रकार का स्वभाव (धर्म) काय ये तीन धर्मकाय के ही स्वरूप हैं। यह बात माध्यमिकसिद्धान्त के अनुसार है क्योंकि माध्यमिकों के मत में एक धर्म की शून्यता दूसरे धर्म की शून्यता कथमपि नहीं हो सकती और आवश्यक भी नहीं है, फलतः उनके मत में सर्वज्ञज्ञान में जो शून्यता स्थित होती है, वह धर्मकाय होती है, जिसका नाम 'स्वभावविशुद्ध–स्वभावधर्मकाय' है। ऐसा होने से माध्यमिकों के मत में त्रिविध धर्मकाय होते हैं–पूर्वोक्त द्विविध स्वभावधर्मकाय और ज्ञानधर्मकाय। युक्त्यनुयायी विज्ञानवाद के मत में यथोक्तानुसार स्वभाव विशुद्ध स्वभाव (धर्म) काय का ग्रहण न किए जाने से धर्मकाय, ज्ञानधर्मकाय और आगन्तुक विशुद्धस्वभाव (धर्म) काय के भेद से दो ही प्रकार का माना जाता है। इन दोनों ही प्रकारों में कायों की कुल संख्या तीन ही है– धर्मकाय, संभोगकाय और निर्माणकाय।

धर्मकाय का विशेष विवेचन –

सर्वाकारज्ञता, ज्ञानधर्मकाय तथा बुद्ध का ज्ञान ये सब पर्यायवाची हैं। पालित्रिपिटक के अनुसार बुद्ध का बुद्धत्व और बुद्ध के अनास्रव धर्म उसके धर्मकाय हैं। धर्मकाय की परिनिष्पत्ति से ज्ञान, प्रहाण, प्रभाव और रूपकायसम्पत् इन चार फलसम्पत् की प्राप्ति होती है। यह धर्मकाय अचिन्त्य है। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता के अनुसार वास्तव में बुद्ध का यही शरीर है।[3] धर्मकाय ही भूतार्थिक शरीर है रूपकाय नहीं। बुद्ध का ज्ञान धर्म द्वारा होता है क्योंकि बुद्ध धर्मकाय है।[4] मध्यममार्ग का सारभूत प्रतीत्यसमुत्पाद धर्म है। बुद्धस्वभाव को 'धर्म' और 'प्रज्ञा' कहा गया है। यह धर्मकाय रूपकाय के असदृश सर्वप्रपञ्च व्यतिरिक्त है। यह शुद्धकाय है। इसे स्वभावकाय भी कहा गया है।[5] संवृतिसत्य की दृष्टि से इसको शून्यता, तथता, भूतकोटि और धर्मधातु कहते हैं।[6]

शून्यतावादी माध्यमिक के मत में बुद्धकाय के परीक्षण के लिए नागार्जुन के 'मध्यमकशास्त्र' के 'तथागत परीक्षा' की परीक्षा करनी चाहिए। यथा ज्ञात है कि माध्यमिक का अपना कोई मत नहीं है। नागार्जुन कहते हैं कि निष्प्रपञ्च तथागत के विषय में कोई भी कल्पना सम्भव नहीं है। जैसे तथागत निःस्वभाव है उसी प्रकार यह जगत निस्वभाव है।[7] सब धर्म मायोपम हैं। शून्यतावादी के मत में बुद्ध निःस्वभाव है अर्थात् वस्तुनिबन्धन से मुक्त है और परमार्थसत्य की दृष्टि से तथागत और जगत का यही यथार्थरूप है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विज्ञानवादी का कहना है कि – शून्यता लक्षणों का अभाव है और यह एक अलक्षण 'वस्तु' है क्योंकि शून्यता की संभावना के लिए दो बातों का मानना परमावश्यक है – (1) उस आश्रय का अस्तित्व जो शून्य है और (2) किसी वस्तु का अभाव जिसके कारण हम कह सकते हैं कि यह शून्य है, पर यदि इन दोंनो का अस्तित्व न माना जाय तो शून्यता असंभव हो जायगी। शून्यता को विज्ञानवादी 'वस्तुमात्र' मानते हैं और यह वस्तुमात्र 'चित्तविज्ञान' या 'आलयविज्ञान' है; जिनमें सास्रव और अनास्रव बीज का संग्रह रहता है। सास्रव–बीज प्रवृत्ति धर्मों का और अनास्रव–बीज निवृत्तिधर्मों का हेतु है। जो कुछ है वह चित्त का ही आकार है। जगत चित्तमात्र है। चित्त के व्यतिरिक्त अन्य का अभ्युपगम विज्ञानवादी को मान्य नहीं है। सब कुछ मनोमय है। संसार और निर्वाण दोनों चित्त के धर्म हैं। परमार्थतः चित्त का स्वभाव प्रभास्वर और अद्वय है। वह आगन्तुक दोष से विनिर्मुक्त है। पर रागादि–मल से आवृत होने के कारण चित्त संक्लिष्ट हो जाता है जिससे आगन्तुक–धर्मों का प्रवर्तन होता है ओर संसार की उत्पत्ति होती है। यही प्रवृत्तिधर्म या विज्ञान का सक्लेष संसार कहलाता है। विज्ञान का व्यवदान ही निर्वाण कहलाता है। यही शून्यता है। विज्ञानवादी के अनुसार शून्यता, तथता, धर्मकाय सत्यस्वभाव हैं। यह शाश्वत और लक्षणरहित है। लक्षणयुक्त होने पर वह माया कहलाता है और अलक्षण की स्थिति में शून्य। अलक्षण विज्ञान का यह परिशुद्ध बुद्धत्वरूप धर्मकाय कहलाता है।

उभयाद्वैतपरिच्छेदः

एकं संसारशून्यं सकलसुखनिधिं सच्चिदानन्दकन्दं
मायायोगेन विश्वात्मकमिदममलं ब्रह्मविश्ण्वीषसंज्ञम्।
सृष्टिस्थित्यन्तहेतुं निगमकविनुतं सर्वभूतात्मभूतं,
सर्वज्ञं सर्वशक्तिं रणहरममृतं तन्महो भावयेऽहम्।।1।।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षमाजन्मशुद्धरसहासमुखप्रसादम्।
श्यामं गृहीतशरचापमुदाररूपं रामं सराममभिराममनुस्मरामि।।2।।
श्रीरामचन्द्रचरणौ सुखमाश्रयित्वा विज्ञानवादिमतमध्यमयोर्वरं किम्।
कुर्वे बलाबलनिरीक्षणमञ्साऽहं भाषानुवादमधिकृत्य गुरोः प्रसादात्।।3।।

माध्यमिक एवं विज्ञानवाद का अविरोध –

प्रश्न– अत्यन्त श्लाघनीय मध्यमाप्रतिपत् का उपक्रम (=आरम्भ) करके, योगाचार दर्शन को परिनिष्ठित (=भलीभाँति स्थापित) किया गया

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है/(करना); यह कौन सा क्रम है ? अथवा मान्य मध्यमाप्रतिपत् को आगे करके योगाचारदर्शन(=विज्ञानवाद) की स्थापना करना कौन सा क्रम है?

उत्तर– यह दोष नहीं है। इस योगाचार दर्शन को/का भी भगवान बुद्ध ने नीतार्थ[1] और नेयार्थ विभाग पूर्वक बताया/उपदेश किया है। भगवान बुद्ध के वचनों की व्याख्या करने वाले आर्य युवराज पर्यन्त आचार्यों ने इसका परिग्रहण (=सम्यक् ज्ञान) किया है और इसकी साधना की है, अत एव यह योगाचार दर्शन भी अत्यन्त श्लाघनीय है। इस योगाचार (=विज्ञानवाद) को सिद्ध करने के लिए यह 'साकारसिद्धि' प्रारम्भ की जा रही है।

पूर्वपक्ष– फिर विरोधी दो मत तो सत्य नहीं हो सकते। 'सभी मतों का पर्यवसान एक में है' इस प्रकार एक–हृदय (=पर्यवसितार्थ) को जानने वाले भगवान बुद्ध जो कि विनेय (=शिष्य) के अनुकूल स्वयं उपदेश देते हैं, वे नेयार्थ का भी उपदेश कर दें।[2] (यदि कहें कि सत्यदृष्टा बोधिसत्वों की दृष्टि से परस्पर विरोधी मतद्वय का अवतार किया गया है; तो इस पर कहते हैं कि भगवान ने भी चूँकि विनेय–सापेक्ष नेय का उपदेश किया है) तो फिर भूमियों[3] को प्राप्त सत्यदृष्टा (बोधिसत्व) एक–एक मत की देशना से एक–एक मत के पक्षपाती कैसे हो गये ? यदि कहें कि यह विज्ञानवाद को सिद्ध करने वाली 'साकारसिद्धि' विशिष्टान्यदेशना (विशिष्टों के लिए अथवा विशेष प्रकार की देशना) है, तो इस पर कहते हैं कि तब तो इसका उपदेश परानुरोध से माना जायगा (फलस्वरूप भगवान के स्वातन्त्र्योपदेश की बात समाप्त हो जायगी)। यह मन्त्रनय परमगम्भीर है। यह मन्त्रनयसिद्धान्त {मध्यमाप्रतिपत् और योगाचार (विज्ञानवाद)} इन दो परिस्थितियों पर आश्रित है जिनमें इतना विरोध है। भगवान भले ही समन्तभद्र[4] हों, परन्तु इससे तो मेरे मन को शान्ति नहीं है।

उत्तरपक्ष– बता रहे हैं कि,

इस विषय में विरोध पौरुषेय (=पुरुषकृत) है। दोनों ही स्थितियों (विज्ञानवाद और शून्यवाद) में वस्तु (=तत्त्व) एक ही है। मुनि (=बुद्ध) का शास्त्र समारोप और अपवाद[5] का पर्यन्त (=पर्यवसान) है। अर्थात् इसमें समारोप और अपवाद नहीं है।

समारोप और अपवाद विनिर्मुक्त योगाचार दर्शन की चित्राद्वैततया स्थिति –

चित्रविज्ञानराशि में अप्रकाश (=अज्ञान, अविद्या) के लेश का भी आरोप सह्य नहीं है। न ही प्रकाशलेश का अपवाद सह्य है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जिस प्रकार शरीर में बाण के चुभने अथवा कटने से व्यथा(=पीड़ा) होती है और बाण निकल जाने तथा घाव भर जाने से पीड़ा का अभाव हो जाता है उसी प्रकार साकारविज्ञान में ग्राह्य–ग्राहक का आरोप होता है और उसका निराकरण कर देने से चित्राद्वैतविज्ञानमात्र अवशेष रहता है।[6]

यदि अपवाद सांवृतिक नहीं है और आरोप तात्त्विक नहीं है तथा दोनो तत्त्वतः नहीं है, तो फिर क्या विरोध है ?[7]

इसी प्रकार सदसल्लक्षणनिर्देश में आर्यस्वामी[8] ने कहा है –

द्रव्यतः अभूतपरिकल्प है, उसमें ग्राह्य और ग्राहक दोनों नहीं है। इस अभूतपरिकल्प में विशुद्धविज्ञानालम्बना शून्यता विद्यमान है। यह शून्यता है– ग्राह्यग्राहकरहितता। इस ग्राह्यग्राहकरहिततारूप शून्यता में भी अभूतपरिकल्प[9] है।

काम, रूप्य और आरूप्य भेद से जो त्रिधातु चित्त–चैत्त हैं, वे सब अभूतपरिकल्प हैं।[10]

ऐसा कहते हुए ग्राह्य–ग्राहक के ही आरोप का निषेध (और) प्रतिभासमान के ही अपवाद का निषेध बताया है। अभूत का अर्थ है– ग्राह्यग्राहकद्वय। परिकल्प का अर्थ है– जिसके द्वारा अथवा जिसमें परिकल्पना की जाय।[11] पृष्ठजविकल्प द्वारा कल्पना की जाती है।[12]

जिस प्रकार माया है उसी प्रकार अभूतपरिकल्प कहा गया है। जिस प्रकार मायाकृत (=माया से उत्पन्न, हस्त्यश्वसुवर्णादि) हैं उसी प्रकार (ग्राह्य–ग्राहक) द्वय की भ्रान्ति बतायी गयी है।[13]

जिस प्रकार मायामन्त्र से परिगृहीत काष्ठलोष्ठादि भ्रान्ति के निमित्त हैं उसी प्रकार परतन्त्रस्वभाव[14] अभूतपरिकल्प को जानना चाहिए। 'यथामायाकृतम्' का अर्थ है– माया में जिस प्रकार हस्ती, अश्व और सुवर्णादि आकृति हस्त्यादितया प्रतिभासित होते हैं, उसी प्रकार अभूतपरिकल्प में ग्राह्यग्राहकतया प्रतिभासितद्वय की भ्रान्ति परिकल्पित स्वभावाकारतया जाननी चाहिए। (ज्ञानश्री इसका अर्थ करते हुए कहते हैं कि) यहाँ भाष्य में काष्ठलोष्ठादिक का अर्थ है – प्रवीणशिल्पि द्वारा रचित हस्त्यादिसंस्थान जो कि सम्यक्तया प्रयुक्त हों, चित्रित हों। लोष्ठ का अर्थ है– मन्त्रादि से परिग्रह के कारण विकृतेन्द्रियज्ञानधर्म जो पीताद्याभास से व्याप्त या समूहापन्न हो। आदिशब्द से मृण्मयपाशाणादि का ग्रहण किया गया है। अलंकारभाष्य में लिखित 'यथामायाकृतम्' व्याख्येय कारिका का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनुवाद है। 'तस्यां मायायाम्' का अर्थ है – कृत्रिम हस्त्यादि में। यह उपलक्षण है, अतः 'यथोक्त काष्ठलोष्ठादि में' भी यह समझना चाहिए। हस्त्यादि की आकृति का अर्थ है– वर्णसंस्थान। तद्भाव अर्थात् हस्त्यादितया, प्रतिभासित= अध्यवसित; क्योंकि असत् का अनुभव नहीं होता। इसका तात्पर्यार्थ यह है कि जिस प्रकार सूर्यरश्मियों में जल का अध्यवसानमात्र या जल का अध्यवसायमात्र है उसी प्रकार हस्त्यादि मायामात्रकृत हैं। उसी प्रकार द्वयभ्रान्ति है यह सम्बन्ध (=अन्वय) है। (द्वयभ्रान्ति का तात्पर्य है ग्राह्यग्राहकद्वयभ्रान्ति अर्थात् द्वयभ्रान्ति अध्यवसानमात्र है)। द्वयभ्रान्ति का व्याख्यान है– परिकल्पितस्वभाव[15], ग्राह्यग्राहकमात्र। (आकारता की व्याख्या करते हैं कि) खण्डद्वय (=ग्राह्यग्राहक) के प्रतिभास के कारण अभूतपरिकल्प का जो आकार (=उल्लेख)। (उसकी) तत्ता अर्थात् उसका (स्व) भाव। ग्राह्यग्राहकतया प्रतिभासित अर्थात् अध्यवसित। ("तस्मिन्नभूतपरिकल्पे.....वेदितव्या" इस महायानसूत्रालंकारभाष्य का सम्पूर्ण अर्थ है–) जिस प्रकार मायादि में हस्त्यादि का अवसाय है उसी प्रकार अभूतपरिकल्प में द्वय (=ग्राह्यग्राहक) का अवसाय है।

और भी

जिस प्रकार मायाकृत में हस्त्यादि परमार्थ नहीं है उसी प्रकार (परतन्त्र में परमार्थ नही है यह) अभीष्ट है। जिस प्रकार मायाकृत की उपलब्धि है उसी प्रकार संवृतिसत्यता है।[16]

जिस प्रकार 'उसमें तद्भाव नहीं है' अर्थात् मायाकृत में हस्तित्वाद्यभाव (इष्ट) है, उसी प्रकार परतन्त्र में परमार्थ (इष्ट है)। परमार्थ का अर्थ है–परिकल्पितद्वयलक्षण ग्राह्यग्राहकभाव का अभाव। जिस प्रकार मायाकृत की हस्त्यादिभावतया उपलब्धि होती है उसी प्रकार अभूतपरिकल्प[17] की संवृतिसत्यतया उपलब्धि होती है। यहाँ मायाकृत से मायारचित समझना चाहिए। हस्त्यादिभावतया उपलब्धि का अर्थ हुआ तद्भावतया ज्ञान अर्थात् अध्यवसाय। संवृतिसत्य अर्थात् ग्राह्यग्राहक, तद्भावतया (= ग्राह्यग्राहकभावतया) उपलब्धि=अध्यवसाय। इस मूलविषय से विशयी (विज्ञान) का निर्देश दिखाया गया है।

जिस प्रकार मायाकृत के अभाव में उसके निमित्त की अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार आश्रयपरावृत्ति होने पर असत्कल्प की प्राप्ति होती है।[18]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जिस प्रकार मायाकृत के अभाव में उस (=मायाकृत) के निमित्त काष्ठादि की व्यक्ति अर्थात् भूतार्थता प्राप्त होती है उसी प्रकार आश्रयपरावृत्ति[19] हो जाने पर ग्राह्यग्राहकद्वय की भ्रान्ति का अभाव हो जाने से अभूतपरिकल्प[20] का भूतार्थ (सत्यार्थ) उपलब्ध होता है। मूल कारिका में असत्कल्प का अर्थ है–अभूतपरिकल्प और भूतार्थ का अर्थ है–द्वयविवेक।

जिस प्रकार लोक माया के निमित्त लोष्ठादि में स्वतन्त्र व्यवहार करता है उसी प्रकार परावृत्ति हो जाने पर अपर्यस्त (=अभ्रान्त) यती स्वच्छन्द व्यवहार करता है।[21]

जिस प्रकार अभ्रान्त लोक माया के निमित्त काष्ठादि में कामतः=स्वच्छन्द रूप से व्यवहार करता है उसी प्रकार आश्रयपरावृत्ति हो जाने पर अविपर्यस्त(=अभ्रान्त) आर्य, कामचारी=स्वतन्त्र हो जाता है। इसका अभिप्राय यह समझना चाहिए कि लोक यह जानता है कि 'यह काष्ठादि यन्त्र मात्र है' अथवा उदाहार्य में 'भ्रान्त ज्ञानाकारमात्र है', 'न हाथी और न ही सुवर्ण है' यह निश्चय हो जाने के कारण स्वतन्त्र व्यवहार करता है।

उस (=माया) में तदाकृति (=हस्त्याकार) है, तद्‌भाव (=हस्त्यादिभाव) नहीं है, इसलिए माया में अस्तित्व और नास्तित्व का विधान किया जाता है।[22]

यह श्लोक गत (=ज्ञात) अर्थ वाला है।

(परिनिष्पन्न और परतन्त्र अथवा परतन्त्र और परिकल्पित का अभेद बताते हुए कहते हैं–) मायादि में जो भाव है वह भाव नहीं है; जो अभाव है वह अभाव नहीं है तथा न अभाव और न ही भाव ही है। इस प्रकार मायादि में भावाभाव का अविशेष (=विशेषाभाव अर्थात् अभेद) विहित होता है।[23]

(कारिका में आए हुए) 'न भावस्तत्र न चाभावो' का अर्थ है कि 'जो आकृतिभाव है वह नहीं है' अर्थात् उसका भाव नहीं है। 'नाभावो भाव एव च' का अर्थ है कि 'जो हस्त्यादि का अभाव है वह नहीं है' अर्थात् अभाव नहीं है। माया में भावाभाव का अविशेष (=अभेद) विहित है। माया में जो (हस्त्या) कृति का भाव है वही हस्ती का अभाव है। जो हस्ती का अभाव है वही हस्त्याकृति का भाव है।

(अभूतपरिकल्प में) द्वय (=ग्राह्यग्राहक) की आभासता है, किन्तु द्वयभाव नहीं है; इसलिए रूपादि में अस्तित्व और नास्तित्व का विधान किया जाता है।[24]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उसी प्रकार यहाँ अभूतपरिकल्प में द्वयाभासता है, परन्तु द्वयभाव नहीं है इसलिए अभूतपरिकल्पस्वभाव रूपादि में अस्तित्व और नास्तित्व का विधान किया जाता है। यहाँ पर 'द्वयाभता' शब्द की व्युत्पत्ति एवं तदनुसार अर्थ करते हैं–जो द्वय की भाँति प्रतीत हो वह कहा जायगा द्वयाभ, उसका भाव अर्थात् अन्त एवं बाह्यरूपतया प्रतिभासी स्वभाव।

रूपादि में न तो भाव है और न ही अभाव; न अभाव है और न ही भाव। रूपादि में भाव और अभाव का अविशेष (=अभेद) विधान किया जाता है।[25]

कारिका में आए 'न भावस्तत्र चाभावो' का अर्थ है– द्वयाभासता। 'नाभावो भाव एव च' का अर्थ है–ग्राह्यग्राहक द्वयभाव की नास्तिता। अथ च, रूपादि में भावाभाव का अविशेष (=अभेद) बताया गया है; जो द्वयाभासतया भाव है वही है– द्वय का अभाव।

(भाव और अभाव का ऐकान्तिकत्व और अविशेष) समारोप और अपवाद के अन्त (=निश्चय) के प्रतिषेध के लिए तथा हीनयान से गमन के प्रतिषेध के लिए माना जाता है।[26]

यहाँ भाव और अभाव का ऐकान्तिकत्व (=अवश्यम्भाव) और अविशेष(=भेदाभाव अर्थात् एकत्व) क्रमशः क्यों माने जाते हैं? (उत्तर देते हैं कि) समारोप और अपवाद के अन्त (=निश्चय) के प्रतिषेध के लिए तथा हीनयान के स्वीकार के प्रतिषेध के लिए माने जाते हैं। अभाव की अभावता को जानकर समारोप नहीं करता। भाव के भावत्व को जानकर अपवाद नहीं करता। उन दोनों (=भाव और अभाव) के अविशेष को जानकर भाव से उद्विग्न नहीं होता। यही कारण है कि हीनयान से गमन नहीं करते। यह विस्तृत अर्थ है। तथा अभिसमयालंकार में जो तात्पर्य है –

जो कुछ विरोधी शास्ता भगवान बुद्ध के वचनों का यह व्याख्यान करते हैं कि 'धर्मों की सत्ता है और ज्ञेय में आवरण का क्षय होता है' उससे मुझे विस्मय होता है।[27]

(वह) प्रकरणान्तर की भाँति कल्पित धर्मों के निषेध के अभिप्राय को बताकर सामान्योक्ति से प्रकाश के निषेध (=अभाव) की षङ्का को संकुचित(=दूर) करने के लिए कहा जाता है।

इससे कुछ भी अपनेय (=वारणीय, अपवादयोग्य) नहीं और न ही कुछ प्रक्षेतव्य (=आरोपणीय) है। भूत (=सत्य) को भूततया (=सत्यतया) जानना चाहिए। भूतदर्शी (=तत्त्वदर्शी) मुक्त हो जाता है।[28]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

(अतः=) इस 'अभूतपरिकल्प' शब्द के वाच्य प्रकाशमान चित्र(=चित्राद्वैतविज्ञान) से संक्लेश काल की अपेक्षा से स्वसंवेद्यतया कुछ भी अपनेय (=अपवादयोग्य) नहीं है। (कारिका में आए 'नापनेयमतः किञ्चित्' का यह अर्थ है।)

पहले से ही अभावरूप (=ग्राह्यग्राहकाभावरूप) होने से हमने क्या अपनयन(=अपवाद) किया ? (अर्थात् कुछ नहीं)। असत्वापादन के अतिरिक्त निह्नव (=अभावापादन अर्थात् अपवाद) और क्या है ? (अर्थात् कुछ नहीं)।

'अप्रकाश, ग्राह्यग्राहक, अनाकार अथवा आत्मादि कुछ भी प्रक्षेप्तव्य नहीं है किन्तु 'भूत (=सत्य) को भूत (=सत्य, तथता) के ही रूप में ग्रहण करना चाहिए न कि अभूत के रूप में' यह है अपवादनिषेध; और 'भूत को ही भूत के रूप में अधिमोक्ष करना चाहिए न कि अभूत को'; यह है समारोप का निषेध। भूत और अभूत क्या है ? इसके विशेष स्वरूप को जानने के लिए 'मध्यान्त विभाग'[29] में सत् और असत् के लक्षण का अनुसरण करते हुए (बताया गया है कि) द्वय (=ग्राह्यग्राहक) को अभूत और द्वयशून्यता धर्मी को भूत समझता है क्योंकि दोनों एककर्तृक हैं (अर्थात् जो भूत को जानता है वही अभूत को भी जानता है)। यहाँ (अभिसमयालंकार कारिका में आए हुए) 'अतः'='इससे' (द्वारा बताना चाहते है कि) प्रत्यक्षतः ज्ञात होने के कारण प्रकाशराशि अप्रतिक्षेपार्ह है अतः भूत है किन्तु (उससे) अन्य, कल्पितमात्र होने से अभूत है। इससे उस (=कल्पित) की शून्यता की भूतता को सूचित किया गया है। इसलिए भूतसाक्षात्कारी अथवा भूतग्राही (=भूत का साक्षात्कार करने वाला) मुक्त हो जाता है। श्रुतमयी और प्रज्ञामयी (प्रज्ञाओं) के क्रमशः अभ्यास द्वारा मुक्त हो जाता है। यह अर्थ है। मध्यमा प्रतिपत् समारोप और अपवाद से विनिर्मुक्त है। यही है – योगाचारदर्शन। इस प्रकार वस्तुभेद नहीं है।[30] यह बताया जा चुका है कि प्रतिभास ही आरोप नहीं है और न ही बाध(=कल्पित धर्म) अर्थतया स्वीकार्य है। इतने पर भी जो लोग प्रतिभासमान भी पुद्गल, निराकार, वेदनादि तथा ग्राह्यतादि का आरोप करते हैं और जो अप्रतिभासमान का भी अपवाद करते हैं उन दोनों प्रकार के लोगों का पूर्णतः अथवा आंशिक विरोध परस्पर का प्रतिक्षेप करता हुआ केवल अनर्थ का ही कारण बनता है। इस प्रकार यही है – शून्यतानय। जैसा कि उत्तरतन्त्र[31] में बताया गया है –

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विज्ञानवाद के मतानुसार शून्यतानय –

शून्यता अविक्षिप्त चित्त को कहते हैं। यान में सम्प्रतिष्ठित बोधिसत्व तथागतगर्भ शून्यतानय में भ्रान्त नहीं है। (पूछते हैं कि) जो भाव के विनाश के लिए शून्यतारूपी विमोक्ष–सुख की कामना करते हैं क्योंकि सत् धर्म का उत्तरकाल में उच्छेद ही विनाश है और वही परिनिर्वाण है अथवा जो शून्यता के ज्ञान से शून्यता की ओर प्रतिसरण करते हैं, (कि) शून्यता रूपादि से व्यतिरिक्त कोई धर्म है हम जिस का/की अधिगमन/भावना करेंगे। इनमें से तथागतगर्भ शून्यता किसे कहते हैं ?

इससे कुछ भी अपनेय नहीं है और न ही कुछ उपनेय है। भूत को भूततया देखने वाला भूतदर्शी मुक्त हो जाता है।[32]

यह (उत्तरतन्त्र का) विस्तार (=व्याख्या, विवेचन) है। (उत्तर देते हैं कि) शून्यतार्थ में प्रथम भ्रान्त इसलिए नहीं है कि सत् आकार की अलीकता मानकर पश्चात् उसका उच्छेद नहीं माना जाता; द्वितीय भी विप्रलब्ध नहीं है, क्योंकि निराकार वेदना की भाँति (शून्यता को) व्यतिरिक्त माना जाता है।

प्रश्न– कारिका में आए हुए 'अतः' शब्द की व्याख्या की गयी है कि तथागतधातु(=शून्यता) से न तो संक्लेशनिमित्त कुछ अपनेय और न ही व्यवदाननिमित्त कुछ उपनेय है ?

उत्तर– यह सत्य है किन्तु धर्म द्वारा धर्मी का निर्देश किए जाने से 'तथागतधातु' से शून्यता धर्म वाले चित्तविवर्तग्राह्य का ही ग्रहण किया है, क्योंकि कल्पनानिवेशी, शून्यतामात्र में किसी के प्रक्षेपादि की संभावना नहीं की जा सकती । परिणामस्वरूप संक्लेश और व्यवदान के निमित्त सत् और असत् के निरोध और उत्पाद के प्रतिशेध द्वारा यथोक्त अपवाद और समारोप का निषेध ही विवक्षित है क्योंकि इसके पश्चात् ही कहा है कि 'जो जहाँ नहीं है वह उससे शून्य है' ऐसा जानता है और 'जो यहाँ अवशिष्ट होता है वह यहॉ सत् होता है' इस प्रकार यथाभूत को जानता है, समारोप और अपवाद के अन्त के परिवर्जन के कारण इससे अविपरीतशून्यता (=अपर्यन्तशून्यता)[33] का लक्षण प्रकाशित हो रहा है।'[34] इसलिए प्रकाशरूप (विज्ञान) का निषेध नहीं है। यही मध्यमा (प्रतिपत्) का अर्थ है। अथवा, सभी संस्कृतधर्म प्रज्ञापारमिता की साधना में न तो शून्य हैं और न ही अशून्य। यहॉ पर अभूतपरिकल्प तो स्वकीय आत्मलाभ के लिए हेतुप्रत्यय से प्रतिबद्ध होने के कारण सल्लक्षण अत एव संस्कृत है और शून्यता, हेतुप्रत्यय से निरपेक्ष होने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के कारण असल्लक्षण, अत एव असंस्कृत हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अभूतपरिकल्परूपता के कारण संस्कृतधर्म शून्य नहीं हैं तथा ग्राह्यग्राहकरूपता के कारण शून्य हैं। इसी तरह असंस्कृत धर्म भी धर्मतारूप से शून्य नहीं हैं, परन्तु द्वय (=ग्राह्यग्राहक) से स्वरूपतः शून्य है, वही मध्यममार्ग है।[35]

इससे

मध्यान्तविभागशास्त्र में जिसे सत् मध्यमाप्रतिपत् कहा गया है उसे ही युवराज कुमारनाथ मौलि ने साक्षात् अकल्प (=ग्राह्यग्राहकादिनियम रहित) माना है । इसमें पाण्डित्यपरिश्रम से क्या लाभ ?

इसलिए यही मध्यमास्थिति है और वस्तुतः योगाचारनय है।

इसी को मन में रखकर आर्य नागार्जुनपाद की भी

आत्मग्रह की निवृत्ति के लिए स्कन्ध और धातु की देशना की गयी है। महाभागों के चित्र (विज्ञान) मात्र की व्यवस्था से वह (=देशना) भी ध्वस्त हो गयी।[36]

यह श्लाघा (भी घटित होती है)। दूसरी दिशा के अपक्षेप से तो, 'चित्तमात्रमिदं सर्वम्' (= यह सब कुछ चित्तमात्र है) यह मुनि (=शाक्यमुनि) की जो देशना है; वह जन्ममरणादि के भय से परिहार के लिए है। वह बालकों अर्थात् अल्पमति विनेयजनों के लिए है। यह वास्तविक नहीं है।[37]

यह कहा गया है। लोग प्रायशः अर्थशक्ति द्वारा ही बाह्य की तरह चित्त की भी सत्ता को स्वीकार करते हैं। लोक आज तक वार्तिककार 'धर्मकीर्ति' और (अलंकार) भाष्यकार 'प्रज्ञाकरगुप्त' के प्रयासों से भी प्रबोध को प्राप्त नहीं हुए हैं प्रत्युत लोक अन्य अभिप्राय और दोश दोनों को लेकर चलता है। 'चित्तमात्रम्' यह सामान्य कथन प्रायस्त्व सूचित करता है। इससे (विज्ञान की) सर्वथा अनिश्टता सूचित नहीं होती। अन्यथा श्लाघा[38] का निरवकाश प्रसक्त होगा। आर्य नागार्जुन की श्लाघा तब तक संभव नहीं हो सकती जब तक (विज्ञान को) स्वप्न की भाँति अनुत्पन्न, अनिरुद्ध और प्रतिभासमान न माना जाय।

कोई धर्म न तो उत्पन्न होता है और न ही निरुद्ध। केवल प्रत्यय ही उत्पन्न और निरुद्ध होते हैं।[39]

इस वचन से इनके मत में भी साकारनय ही है। इतना ही नहीं संभोगकाय के वर्णन से और अन्यों की भाँति उपचार (=आरोप) के वर्णन न करने से भी साकारनय मान्य है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रश्न– तो फिर न रक्त, (न) हरित और (न) माञ्जिष्ठ (= लाल–पीला)[40] इत्यादि क्यों कहा गया है ?

उत्तर– यह धर्मकाय के अभिप्राय से कहा गया है। उसके अनन्तर ही अद्वय तुम्हें नमस्कार है।[41]

यह प्रसज्य (प्रतिषेध) वृत्ति को लेकर कहा गया है। किञ्च, 'स्वसंवेद्य धर्मकाय की वन्दना करता हूँ' इस स्ववेदन के आदर में भी यदि आप विपरीत शंका करते हैं, तो आपकी स्वतन्त्रता को धिक्कार है; क्योंकि स्ववेदन की विश्रान्ति चित्राकार प्रतिभास में ही है।[42] 'चित्राकारविज्ञान स्ववेदन है' यह दृढ किया जा चुका है। धर्मकाय का अपलाप करने वालों के विलाप से कुछ नहीं होगा। इसलिए आर्य नागार्जुनपाद की मध्यमा भी युवराज 'कुमारनाथ' के अनुकूल है।

पञ्च स्कन्ध की संवृतिता एवं चित्त–चैत्त के निरोध पर आक्षेप–

इससे जिन्होंने भी (यह कहा था कि)

प्रकृति से (=स्वभावतः) ही भ्रम–भाव (=भ्रम की स्थिति) होने से चित्त–चैत्त का निरोध है। रूपकाय (=संभोगकाय) को आश्रित करके धर्मकाय की प्राप्ति मानी जाती है।

उनकी भी व्यवस्था दुरवस्थित है यह प्रतिपादित किया जा चुका है। यथा कि,

भ्रमभाव के विरोधी स्वसंवेदनरूप (धर्मकाय) की सभी जगह सिद्धि की जाने के कारण रूप (=संभोगकाय) मात्र की अधिष्ठानता कहाँ ?

इसलिए 'तात्विकरूप से ज्ञान भी विचारसह नहीं है। सांवृतिक दृष्टि से तो पञ्चस्कन्ध भी सत् हैं। ऐसी स्थिति में एक का निषेध करके अन्य की स्थापना कैसे ?' यह नहीं कहना चाहिए। अपि च, यह संवृति क्या है ? यदि अविचार की अप्रतीति (ही संवृति है); तो खेद है कि, (तब तो) संवृति के अनन्त होने से (यह) पञ्चस्कन्धों में नियत क्यों है ? (अर्थात् पञ्चस्कन्धों को सांवृतिक सत्य क्यों माना जाता है ?) निष्कर्षतः बालक को भी करप्रणिधान से अनुमेय (=हाँथ लगाया जा रहा है इसलिए अनुमान किया जा सकता है कि) 'चन्द्रबिम्ब भी प्राप्य है' इस विषय वाली (बुद्धियों की भाँति) सहज आभिसांस्कारिक व्यामोह की भाजन (अर्थात् स्वाभाविक व्यामोहरूप) प्रकृति, ईश्वर और छः पदार्थों की बुद्धियाँ भी तत्तद् वस्तुओं को संवृतिसत्यतया ग्रहण कराएं। यदि विरोधी कहे कि ऐसा ही हो (हम ऐसा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मानते हैं) तो कहते हैं कि तो फिर निरोध (=निर्वाण) के लिए मार्गान्वेषण करने से क्या लाभ ? वेद और ईश्वरादि का ही अन्वेषण किया जाय। वह यदि फिर कहे कि संवृति होने पर भी किसी में ही सन्तोष का लाभ होने से ईश्वरादि की सत्ता का आश्रयण नहीं किया जा सकता तो इसके उत्तर में कहते हैं कि तो फिर यथाविहित लक्षण वाली प्रत्यक्षानुमानरूप संवृति का ही सहारा लेना चाहिए। ऐसी स्थिति में यह 'नामरूप' अवान्तरव्यवस्था मात्र है।

प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से रूपस्कन्ध का साधन नहीं हो सकता; तथा प्रत्यक्ष और अनुमान से ही इसकी बाधा होती है अत एव ज्ञान ही सब कुछ है।

वहाँ पर (=रूपस्कन्ध–साधन) में अनुमान ही बाधक है उस पर (=अनुमान में) भी स्थिति नहीं है फलस्वरूप ज्ञान ही संवृतिसत् है, रूप नहीं। इस कारण संसारपर्यन्त स्थायी ज्ञान ही संवृति द्वारा मान्य है, क्योंकि उसका बाधन होने पर भी प्रकाश होता है, अन्य का प्रकाश नहीं होता।

चित्तनिरोध का खण्डन –

अथवा पञ्चस्कन्ध भी संवृतिसत्य हों, किन्तु बताएँ कि उनका निरोध स्वयं या बुद्धि की निवृत्ति से होता है अथवा निवृत्तिप्रयत्न से ? पहला पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि चित्तसन्तति का स्थिरस्वभाव सिद्ध किया गया है । (यदि पूर्वपक्षी कहे कि) निरालम्बा (चित्तसन्तति) प्रशान्त हो जाती है तो कहते हैं कि शान्ति का अर्थ है– अनुपद्रव; इसमें क्या दोष है ? (अर्थात् चित्तनिरोध न मानने पर भी शान्ति का अर्थ घटित हो जाता है। यदि प्रतिवादी कहे कि शान्ति का अर्थ है–) नाश ? (तो इस पर कहते हैं कि आलम्बन का क्या अर्थ है ?) यदि कहें विषय तो (विषय का नाश होने पर भी चित्त का निरोध तत्त्वतः है या संवृतितः ? पहला युक्त नहीं क्योंकि) निर्विषय ही चित्तसन्तान इस समय (=निरोधावस्था में भी) कैसे प्रवृत्त होता है ? संवृतिरूप से कभी भी विषयव्यावृत्ति नहीं होती। (अतः दूसरा पक्ष युक्त नहीं है। यदि आलम्बन का अर्थ करें) आधार। (तो कहते हैं कि) इस (=चित्त) का आधार मानने से कोई लाभ नहीं है क्योंकि इससे कोई गौरव नहीं होगा। (यदि आलम्बन का अर्थ करें) कारण ? (तो इस पर कहते हैं कि) इस समय(=निरोधावस्था में भी) समनन्तरप्रत्ययरूप कारण विच्छिन्न नहीं होता; विशेषकर अशेष जगत की कृपा के सहाय की बात ही और है। (यदि प्रतिपक्षी कहे कि समनन्तरप्रत्यय होने पर भी) क्लेशाभाव होने के कारण प्रतिसन्धि[44] नहीं होती ? (तो इसका उत्तर देते हें कि) हित और सुख की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इच्छा से अशुचिस्थानपातलक्षण संसार[45] (की प्राप्ति भले ही) न हो किन्तु प्रबन्धमात्रतया व्यापार को कौन रोक सकता है ? विशेषकर दयालु का। इस कारण (चित्त की) स्वयं निवृत्ति नहीं होती; ('निवर्तनप्रयत्न' इस विकल्प का खण्डन करते हुए कहते हैं कि) और फिर (चित्तनिवृत्ति का) प्रयास तो वह करे जो किन्हीं दो में से किसी एक के स्थापन और अन्य के निवर्तन में (क्रमशः) गुण और दोष देखता हो।

पञ्चस्कन्ध की संवृतिता का खण्डन –

प्रश्न– जडराशि का कौन सा गुण है जो चैतन्य[46] में नहीं है, अथवा चैतन्य में कौन सा दोष है जो जड़ में नही है ?

उत्तर– यदि कहें कि चित्त–चैत्त स्वभावतः भ्रान्त होते हैं तो रूपादि भी जडराशि हैं यह दोष क्यों नहीं देते ? किञ्च यदि जड़ होना ही आदरणीय है, तो लोष्ठ, ईंट आदि भी आपके आदरणीय हों; हम इससे ज्यादा क्या कह सकते हैं।

प्रश्न– किञ्च, भ्रान्ति क्या है ?

उत्तर– अलीकता ही भ्रान्ति है ।

प्रश्न– अलीकता को भ्रान्ति मानने पर रूप में अतिप्रसक्ति होगी ?

उत्तर– रूपादि के अलीक होने पर भी भ्रान्ति–व्यवस्था विज्ञान में ही होती है। इस पर कहते हैं तब तो यह परिभाशामात्र है। अपने सिद्धान्तानुसार विभाजन हो जाने पर त्याग और ग्रहण कर लिए जाते हैं। यदि ऐसा ही है तो रूप में भी वैसी ही परिभाषा करके त्याग हो जाय। यदि विज्ञानमात्रवादी को भगवान के प्रतिकूल होने से विज्ञान का ही निरोध अभीष्ट है रूप का नहीं, तो फिर भ्रम का पोषण करने से क्या लाभ ? जड़ की प्रत्यासत्ति (=सम्बन्ध) से भ्रान्ति सम्भावना ही नहीं हो।

चित्त (=विज्ञान) की स्वभावतः (=प्रकृत्या) भ्रान्ति का निरास–

यदि कहें कि विज्ञान का विपर्यास उपलब्ध होता है, जड़मात्र रूप का नहीं (अतः विज्ञान की भ्रान्ति मानी जाती है), तो इस पर कहते हैं कि विपर्यास और भ्रम दोनों समानार्थक हैं। उसका ही निरूपण किया जा रहा है, अतः आपका यह उत्तर कैसे सम्बद्ध है ? (अर्थात् आपका कथन पर्यायोक्तिमात्र है, उत्तर नहीं)। यदि कहें कि 'अतद में तद् ज्ञान' सिद्धान्तानुसार प्रसिद्ध भ्रमार्थ ही मान्य है, तो उसके विपरीत अभ्रान्ति भी विज्ञान की ही प्राप्त है। ठीक है, दोनों (=भ्रम और अभ्रम अथवा वादी और प्रतिवादी दोनों मतों) के सिद्ध होने से भ्रम, भ्रम ही है। यदि (माध्यमिक) कहें

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कि मेरे विचार से वह (=भ्रम का भ्रम होना) भी भ्रम ही है ? (इस पर कहते हैं कि) तब तो सब भ्रम ही है। शून्यताज्ञान भी भ्रम है। कहते हैं कि शून्यताज्ञान तत्त्वतः नहीं है ? तो उत्तर में कहा जा रहा है कि तत्त्वतः नहीं है ठीक है, किन्तु 'शून्यताज्ञान भ्रम है' यह भी कोई (एक) व्यवस्था है। अपि च, 'तत्त्वतः कुछ नहीं है' यही कहलाती है–'शून्यता'। इस जगत् में तत्त्वतः भ्रम ही है अभ्रम नहीं है। यह भी कोई दिशा है।

चूँकि विचार से 'सब कुछ भ्रम ही है' यह स्थिति है, तो क्या यह विचार भी भ्रम है कि अभ्रम ? यदि कहें कि भ्रम; तो फिर 'सब कुछ भ्रम' कैसे ?[47] यदि कहें कि भ्रम नहीं है, तो वह ही भ्रमभाव से रहित है।

यदि कहें कि परमार्थतः कुछ नहीं है–(न तो) भ्रम और (न ही) अभ्रम भी। यह ठीक ही है। केवल संवृति में जिस प्रकार रूपादि पञ्चस्कन्ध हैं उसी प्रकार कोई भ्रम (है और) कोई अभ्रम, यह अवश्य मानना चाहिए। उस समय (संवृति अवस्था में) भी नील में नीलबुद्धि भ्रम नहीं है, किन्तु श्वेत में नीलबुद्धि भ्रम है। इसी प्रकार रजतादि बुद्धियाँ भी दो प्रकार की कहनी होंगी, अन्यथा रूपस्कन्ध भी नहीं होगा। सांवृतिकरूप से चित्त–चैत्त का निरोध और रूपस्कन्ध की स्थिति कही गयी है और संवृति में तो भ्रम ही है। इस (=भ्रम) का ही सम्यक् बोध नहीं है। इसके लिए ही सारे प्रयास हैं।

संवृति की दृष्टि से दोनों (=भ्रम और अभ्रम) हैं, जबकि तत्त्वतः दोनों असत् हैं। ऐसी स्थिति में 'सब कुछ भ्रम है' यह वचन कैसे सम्बद्ध हो सकता है ?

अब यदि कोई कहे कि कदाचित् ज्ञान में भ्रम देखा जाता है रूप में नहीं, इसलिए (पूर्वोक्तानुसार) ऐसा कहा जाता है, तो उसके उत्तर में कहते हैं कि यह भी तो कहा जा सकता है कि स्कन्धों में ही भ्रम देखा जाता है (इसलिए हम भी पूर्वोक्तानुसार कहते हैं)। शास्ता को सम्मत में भी यदि दोश देखा जायगा, तो (यह दोशदर्शन) का भी त्याग करा देगा। अवान्तर भेद (भ्रम और अभ्रम का भेद) तो समान है। यदि कहें कि (चित्त–चैत्त) प्रकृत्या भ्रान्त हैं, तो प्रश्न है कि प्रकृत्या भ्रान्ति सर्वव्यक्त्यनुयायी है या किसी व्यक्तिगत ? यदि उत्तर दें कि सर्वव्यक्त्यनुयायी विवक्षित है, तो यह मत इससे ही खण्डित हो गया कि कोई भी भ्रान्ति सर्वव्यक्त्यनुयायी नही हो सकती। यदि किसी एक व्यक्ति की भ्रान्ति मानें, तो यह भ्रान्ति होती हुई भी विकृति ही है। फिर यह निश्चय कैसे हो कि यह भ्रान्ति है ? क्योंकि दोनों (भ्रान्ति और भ्रान्त्यभाव) देखे जाते हैं। आगम भी बार–बार चित्त को प्रकृत्या

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

परिशुद्ध बताता है। दोषों को बार–बार आगन्तुक बताता है।[49] 'विपर्यास की शंका से पीडित मन अनुभूत होता है (तथा) सम्यक्ज्ञान होने पर शान्त हो जाता है' इसका विवेचन 'सर्वज्ञसिद्धि'[50] में किया गया है।

भ्रान्ति सविकल्पक या निर्विकल्पक किसी एक को लेकर है यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि दोनों (सविकल्पक और निर्विकल्पक) में दोनों (भ्रान्तता और अभ्रान्तता) देखी जाती है। अथवा यदि किसी एक में भ्रान्ति मानते हैं तो उसका ही त्याग करना पडेगा। यदि कहा जाय कि भेदज्ञान नहीं होता कि 'कौन भ्रान्त है और कौन अभ्रान्त'? तो इसके लिए षास्त्रान्तर खोजना चाहिए। फलस्वरूप यह आक्षेप कि 'चित्त–चैत्त प्रकृत्या भ्रान्त हैं' अलक्ष(=अलक्षणीय, अज्ञेय) है। अपि च, चित्त–चैत्त का निरोध और धर्मकाय का साक्षात्कार दोनो परस्पर विरुद्ध हैं क्योंकि साक्षात्कार तो चित्तधर्म है। यदि कहें कि ऐसा कैसे कहते हैं? तो कहते हैं कि कोई गति(=उपाय) न होने से साक्षात्कार उपचार (=आरोप) है, तो इस पर कहते हैं कि तब तो (साक्षात्कार को), साक्षात्कार करने वाले चित्त की स्थिति ही मान लीजिए; चित्त निवृत्ति के प्रयास का क्या फल है, और उपायान्तर का अभाव भी नहीं है ? इस प्रकार ऑख निकाल कर, 'कैसे देखा जाता है' इस कुतूहल को शान्त करने का खेल विद्वानों के लिए उचित नहीं है।

विज्ञान की संवृति की स्थापना एवं साकारविज्ञानरूप धर्मकाय की स्वसंवेदनसिद्धि –

प्रश्न करते हैं कि यदि साक्षात्कार का आरोप ही धर्मकाय का साक्षात्कार है, तो लोष्ठादि भी धर्मकाय के साक्षात्कारी हो जाय, क्योंकि उनमें भी प्रभावातिशय का अभाव है ? उत्तर देते हैं कि आरोपमात्र से धर्मकाय का साक्षात्कार नहीं हो जाता, साक्षात्कार तो अधिगम विशेष से होता है, अन्यथा मन्त्रादि के समान होने से बुद्धत्व का भी आरोप हो जाय। (इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार प्रभावातिषयाभाव समान होने पर लोष्ठादि में धर्मकाय के साक्षात्कार का आरोप करना चाहते हैं उसी प्रकार मन्त्रादि के समान होने से बुद्धत्व का भी आरोप कर लें।) अपि च यदि ऐसा मानें भी तो, अभावातिषय के संभव होने पर (भी) साक्षात्कार से क्या लाभ होगा जैसे कि अभावातिषय की स्थिति में मण्यादि अपना प्रभाव नहीं दिखाते। (इसका तात्पर्य यह है कि अभावातिशय में भी धर्मकाय का साक्षात्कार यदि लोष्ठादि को हो जाय तो भी उससे कोई लाभ नहीं है क्योंकि मण्यादि उसी के सामर्थ्य को बढ़ाते हैं जिसमें बीजरूप में कुछ प्रभाव

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अर्थात् सामर्थ्य विद्यमान होता है। जिस प्रकार प्रभावातिषयाभाव की स्थिति में मण्यादि–समवधान का कोई फल नहीं है उसी प्रकार लोष्ठादि में प्रभावातिषयाभाव में धर्मकाय–साक्षात्कार का कोई फल नहीं है।) पूर्वपक्षी कहता हैं कि यदि यही स्थिति है, तो लक्षण और अनुव्यञ्जन की भी क्या आवश्यकता है ? मणि, मन्त्रादि की भाँति सामर्थ्य–विशेष अन्यथा भी सम्भव है। (अर्थात्, मणि–मन्त्र की भाँति लक्षणानुव्यञ्जनों से भी सामर्थ्यविशेष की वृद्धि नहीं होगी।) अत एव न तो धर्मकाय है और न ही संभोगकाय (दोनों से रहित) परिशुद्ध बुद्धस्थिति है। (अर्थात् साक्षात्कार न होने से धर्मकाय और लक्षणानुव्यञ्जन न होने से संभोगकाय नहीं माना जाना चाहिए।) अथवा रूप की भाँति अधिगम (=विज्ञान) का भी प्रभावातिशय और फलातिशय देखा जाता है अतः रूप को ही निवर्त्य अथवा स्थाप्य माना जाय अथवा अधिगम और रूप दोनों को निवर्त्य और स्थाप्य माना जाय किसी से किसी की प्रयोजन–सिद्धि हो जाय।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि सर्वसामर्थ्य का रूप में आरोप करना सम्भव है, तो इसका उत्तर देते हैं कि इसका विपरीत भी तो हो सकता है कि विज्ञान में ही सर्वसामर्थ्य का आरोप सम्भव है, कोशपान प्रमाण नहीं है। फिर भी किसी एक (रूप अथवा विज्ञान) को स्थापित करने की स्थिति में कदाचित् चित्तभाग की ही स्थापना हो, रूपस्कन्ध की नहीं। रूपसामर्थ्य की अपेक्षया ज्ञानसामर्थ्य का महत्त्व देखा जाता है, अत एव उसी पर भार स्थापित करना चाहिए। अन्यथा 'जगत् विज्ञानमात्र है' यह नेयार्थ कैसे होगा ? फलस्वरूप पञ्चस्कन्ध संवृति पक्ष में भी चित्त–चैत्त का निरोध युक्त नहीं है। सर्वशून्यतापक्ष में भी वही (=पूर्वोक्त रूपादि पञ्चस्कन्ध की) संवृति नहीं है।

(सम्पूर्ण प्रसंग का कारिकार्थ द्वारा संक्षेप में निष्कर्ष देते हैं कि–) संवृतित्व (पक्ष) में (रूपादि पञ्चस्कन्ध को) अन्तिम संवृति नहीं कहा जा सकता। अन्तिम (संवृति) ज्ञानरूप ही है अन्यथा द्रव्यगुणादि की भी संवृति प्राप्त होने लगेगी।

इसलिए साकारविज्ञान की ही स्थिति है और धर्मकाय स्वसंवेदन सिद्ध है।

संभोगकाय तथा धर्मकाय का तादात्म्य एवं उसके द्रव्य (=वस्तु) सत्व की आक्षेपनिरासपूर्वक सिद्धि–

यदि ऐसा है कि स्वसंवेदन वस्तुविषय है तो फिर भगवान का शून्यता नामक धर्ममात्र धर्मकाय प्रज्ञप्तिसत् कैसे होगा ? क्योंकि;

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

'संभोगकाय से भिन्न शून्यतालम्बन निराकारज्ञान ही धर्मकाय है ऐसा कुछ लोग जानते हैं।'

इस पक्ष में भी 'बुद्ध' नाम से संभोग (काय के रूप में) संख्यात से भिद्यमान (धर्मकाय) उस (=संभोगकाय) का स्वभाव कैसे हो सकता है ? अथवा, इस पक्ष में भी संभोग नामक काय से भिद्यमान 'बुद्ध' इस नाम वाला (धर्मकाय) उस (=संभोगकाय) का धर्म कैसे होगा ?

यदि वह (=धर्मकाय अथवा उक्त द्वितीय व्याख्यानुसार संभोगकाय) भी बुद्धरूप हो, तो भिन्नलक्षण वाले दो बुद्ध हो जायेंगे। अपि च, यदि धर्मकाय ही बुद्धरूप हो जाय तो फिर धर्मकाय अन्य मानना होगा।

यदि वह (=संभोगकाय) जो बुद्ध (वही) धर्म(काय) है अथवा बुद्ध ही धर्मकाय है तो न धर्मधर्मीभावतया और न ही सामान्यविशेषतया ही शष्ठ्यर्थरूप सम्बन्ध (=तस्य) का उपपादन हो सकेगा।[51]

यदि (धर्मकायरूप) बुद्ध, संभोग (काय) का धर्म है, तो प्रज्ञप्तिसत् होगा और यदि उससे भी अन्य धर्मात्मा (=धर्मस्वरूप वाला) कोई द्रव्य (सत्) है, तो फिर यह परम्परा (=अनवस्था) है।[52]

(यदि कोई प्रश्न करे कि) अनाकार होने से नीलतादि जिस प्रकार विज्ञान में नहीं उसी प्रकार यदि धर्मता, संवित्ति(=विज्ञान) नहीं है, तो क्या वह धर्मता संभोग (काय) से अन्य है ?

(उत्तर देते हैं–) तो फिर उत्तरतन्त्र में क्लशों के उपचय और अपचय के अत्यन्त अपचय(=अत्यन्त ह्रास अर्थात् अत्यन्त राहित्य) के कारण उसी 'धर्मकाय' को सत्त्वधातु, बोधिसत्त्व और बुद्ध ऐसा कहकर क्यों दिखाया गया है ?[53] और वहीं पर,

धर्मकाय दो प्रकार का है– सुनिर्मल धर्मधातु और उसका निष्यन्द(=निष्कर्ष अर्थात् सारभूत) गाम्भीर्यवैचिश्यनयदेशना।[54]

इस कारिका से धर्मधातु कहा गया है। वही यहाँ प्रकृत(=प्रस्तुत) है, न कि उसकी निष्यन्दभूत गम्भीरविचित्रनयदेशना। तो फिर धर्मधातु भी क्या है ? इसके लिए मध्यान्तविभाग ही पढिए। जो कि,

तथता, भूतकोटि, अनिमित्त, परमार्थता और धर्मधातु ये संक्षेप में शून्यता के पर्याय हैं।[55]

उस प्रकार के सन्देह को दूर करने के लिए कहा गया है। इस प्रकार 'शून्यता' भी धर्ममात्र है, इस पर भी यदि विप्रतिपत्ति है (तो म. वि. में)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

(अभूतपरिकल्प में) द्वय अर्थात् ग्राह्य और ग्राहक के परिकल्पित स्वरूप होने से उसका परमार्थतः (वस्तु रूप से) अभाव ही शून्यता है, तथा (उस द्वय के) अभाव का भाव शून्यता है।[56] इत्यादि अनेक प्रकारों का अनुसरण करते हुए वहीं पर उनके परिहार द्वारा 'कोई निराकार वस्तु 'धर्मकाय' शब्द का वाच्य है' यह तो स्वतन्त्र विचार है (भी कहा है)।

प्रश्न– यदि धर्ममात्र संवृतिमात्र है तो वह (=धर्मकाय) स्वसंवेदन का विषय कैसे होगा ?[57]

जो सदा रहितता (=अभावरूपता) है उसका कहीं पर पूर्व से (=पर्युदास विधि से) विधिरूपतया परामर्श कैसे ?

उत्तर– सभी अभावों की दो प्रकार की स्थितियाँ हैं–प्रसज्य (प्रतिशेध) और पर्युदास। सभी अभावों में धर्मीमान प्रमाण के रूप में मान्य है।

जैसे कि, जब पर्युदास माना जायगा तो यथोक्तानुसार द्वया (=ग्राह्यग्राहका) भासता का भाव ही है– द्वयाभाव। तब स्वसंवेदन से ज्ञान न होने की शंका ही नहीं है।

'उस (=अभूतपरिकल्प) में दोनों नहीं है'[58] इस प्रसज्यपक्ष में भी द्वयाभावसंवेदन, धर्मीसंवेदन की द्वयाभाव विकल्पोत्पत्ति से अतिरिक्त नहीं है। इस (=द्वयाभावविकल्पोत्पत्तिरूप धर्मीसंवेदन) के लिए (भी, आश्रय) प्रदेश (जिसमें निषेध किया जाना है) में घटादि (निषेध्य की भाँति) तादात्म्य या तदाधारता (पुरस्सर) निषेध का प्रस्ताव शास्त्र में विचारणीय है। दोनों ही प्रकार से वही (=भूतलादि) धर्मी वस्तुरूपतया प्राप्त होता है व्यवहार चाहे 'पर्युदास' द्वारा हो या 'प्रसज्यप्रतिषेध' द्वारा इसमें आग्रह नहीं है।[59] अथवा जिस प्रकार टीकाकार ने एकान्ततः (धर्मधर्मी के) भेदाभेद का निषेध होने पर भी दिगम्बर (=जैन) मत के अवतार का वारण 'भावमात्र सापेक्ष होने से' किया है उसी प्रकार विकल्प प्रतिभासी विधिरूप में भी निषेध करना होगा, क्योंकि वह (=विकल्पप्रतिभासी विधिरूप) भी नित्यतादिरूपतया अवस्तु है।[60] यह व्यवस्था जिसलिए है वह पहले ही बताया गया है।[61] धर्मकाय ऐसा (यथोक्तानुसार=म.वि., 01/14 में उल्लिखित भावाभावरूप) ही है।[62] अन्यथा समल, अमल और सर्वत्रगादि के विचार का कोई उपयोग नहीं है।[63] निष्यन्दाग्रार्थ में टीका (में) 'धर्मधातुप्रभावितत्वाद् बुद्धवचनस्य' (बुद्धवचन के धर्मधातु से प्रभावित होने के कारण) को प्रस्तुत करके (=प्रतीक लेकर) ('धर्मधातु' की व्याख्या में) कहा गया है कि– 'सर्वाकारपरिशुद्ध, धर्मकायनाम के धर्मधातु के आधिपत्य से प्रवृत्त होने से।' इसलिए धर्मकाय प्रज्ञप्तिसत् है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह विद्वानों के भय का विषय नहीं है क्योंकि युक्ति और आगम से वैसा ही प्राप्त है। अथवा (प्रसज्यप्रतिशेध पक्ष में) जिसमें (=जिस आधार में) निषेध किया जाता है अथवा विधिरूपनिषेध (=पर्युदास) का जो अवसाय वह धर्मीरूप के सापेक्षतया वस्तुसत् ही है अत एव भगवान का धर्मकाय वस्तुसत् है इसलिए भय छोड़ दीजिए। जिस प्रकार 'प्रदेश में घटाभाव सत्य है' इसका अर्थ है कि 'केवल प्रदेश है'। यह अर्थनिष्ठा है। उसी प्रकार अत्र (=धर्मी में) द्वयाभाव (=ग्राह्यग्राहकाभाव) है इसका अर्थ है कि 'द्वयरूप से अथवा द्वयतारूप से रहित केवल ज्ञानरूप धर्मी है'। इसी अभिप्राय से शास्त्र में निर्णय किया गया है कि–'अपोह दो प्रकार का है, उसकी वस्तुरूप में निष्ठा है। धर्म में धर्मीग्राहि प्रमाण है।'[64] अत एव धर्मधर्मी का,

कल्पित–भेद मानकर बुद्ध और धर्म की व्यवस्था है। ये दोनो निर्माणकायस्वरूप संघ हैं। इस प्रकार 'रत्नत्रय' की स्थिति है।

वास्तव में बुद्ध और धर्म का तादात्म्य ही है। इससे जो भाष्यसहित सूत्रालंकार (है वहाँ पर जो यह बताया गया है कि)

स्वाभाविक काय सम, सूक्ष्म और सम्बद्ध माना गया है। सभी बुद्धों का स्वभाविक काय निर्विशिष्ट (=भेदरहित) होने से समान है।

दुर्ज्ञानता के कारण सूक्ष्म है (और) संभोग काय से संम्बद्ध है। वहाँ पर वास्तविक सम्बन्ध तादात्म्य ही समझना चाहिए।

प्रश्न– 'संभोग बुद्धता का कारण है' इस वचन से (संभोगकाय और धर्मकाय का) तदुत्पत्ति सम्बन्ध ही क्यों न माना जाय ?

संभोगकाय एवं धर्मकाय की तदुत्पत्ति सम्बन्ध का निरास–

उत्तर– नहीं; मध्यान्तविभाग में शून्यतापर्याय की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है–'धर्मधातु' इसलिए कहा है 'कि वह आर्यधर्मों का हेतु है क्योंकि आर्यधर्म उसी का आलम्बन करके उत्पन्न होते हैं'[65] इस वचन से तद् (=शून्यता) के आमुखीकरण का उन (=आर्यधर्मों) में प्रभाव के कारण तथा (=आर्यधर्महेतुत्व) का व्यवहार होता है। इसी प्रकार शून्यतास्वभाव के प्रस्ताव में टीका[66] में (कहा गया है–) शून्यता भावना का प्रयोजन गतिद्वय (=शुभद्वय अर्थात् कुशल संस्कृत और असंकृत धर्मों) की प्राप्ति से लेकर बुद्धधर्मों की प्राप्ति पर्यन्त है। इसी प्रकार अन्य भी प्रयोजन हैं (यथा कि), शून्यता भावना से ही स्वस्वरूप और परस्वरूप क्रमशः रूपकाय और धर्मकाय का प्रकर्ष होता है अथवा पूर्वावस्था को अपेक्षित करके तदंग (=आर्यधर्मों के कारण शून्यता) का आर्यधर्मों के प्रति आधिपत्य कहा गया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यथा, (कोई कहे कि) इसका विक्रम और क्षणिकत्व (=फुर्तीलापन) सर्वार्थ साधक है।[67] आकार के विना कहीं भी अर्थक्रिया की प्राप्ति नहीं होती। समस्त शुभाशुभ धर्मोत्पत्ति में आकार का ही सामर्थ्य देखा जाता है। (अत एव साकार संभोगकाय से तादात्म्यापन्न धर्मकाय ही 'धर्मधातु' का अभिधेय है।)

प्रश्न— तत्त्वाभिमुखीकरण शुक्लधर्मोत्पत्ति में सहकारी है अत एव निराकार से ही सर्वोत्पत्ति होती है ?

उत्तर— इस विषय में न तो कोई आगम है न ही कोई युक्ति। अपि च,

यह मनुष्य (=लोक) कारण को प्रतीत्य=प्राप्त करके उत्पन्न होते हुए भावों अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद को प्रत्यक्षतः देखते हुए भी अन्य के द्वारा कराई गयी क्रिया (आत्मदर्शन) को आश्रित करता है। अज्ञान का यह कौन सा प्रकार है कि सत् को न देखते हुएं असत् को देखता है।[68]

'कृञ्' धातु से कतृकर्म विवक्षा में णिच्प्रत्यय[69] करके 'अन्यकारितम्' शब्द की सिद्धि की गयी है। जिसका अर्थ है— 'अन्य की क्रिया को'। ठीक है, आकारलेश सत् हेतुफलभाव को नहीं देखता, असत् अन्यविषय को देखता है। अथवा, आकारलेश श्रेष्ठ सत् हेतुफलभाव को नहीं देखता, असत् अन्यविषय को देखता है।[70] यदि कहें कि यह सूत्रालंकार का श्लोक तो आत्मवाद को लेकर कहा गया है ? तो कहते हैं कि क्या इस (=धर्मकाय) से भिन्न आत्मवाद है? इस पर भी यदि कहें कि नित्यता, विभुता नहीं स्वीकार की गयी हैं अत एव आत्मवाद नहीं है तो कहते हैं कि नहीं; आत्मवादी अनेक प्रकार के हैं। क्योंकि,

(वह आत्मा) दृष्ट (=प्रत्यक्ष) से भिन्न, निरञ्जन(=निर्लेप) अहङ्कार का विषय, कर्त्ता और भोक्ता (है)। योगियों की मुक्ति है— उस एकमात्र का रह जाना।

धर्मकाय के नित्य और विभु होने का आरोप —

किञ्च, (यदि धर्मकाय का संभोगकाय से) पृथक् प्रतिभास नहीं माना जायगा तो अर्थक्रिया में कहीं उपयोग न होने से आप इसका क्षणिकत्व भी नहीं मानेंगे। ऐसी स्थिति में 'यह निष्कल आत्मा की भाँति ज्ञानमात्र कराने में भी असमर्थ है' इस बात की विषयता(आपत्ति) होगी; (और) जब आगम में नित्यता, विभुता का प्रतिपादन है तब तो कहना ही क्या है ! (सुतराम् अर्थक्रियाकारित्व का विरोध होगा। यदि कहें कि प्रवाहनित्यता मानने से क्षणिकत्वसिद्धि हो जायगी, फलस्वरूप अर्थक्रिया की स्थिति बन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जायगी; तो इस पर कहते हैं कि) यहाँ प्रवाहनित्यता का नहीं किन्तु प्रकृति नित्यता का ही निर्देश है। वहीं पर[71] (कहा गया है कि), प्रकृति से, अश्रंसन (=अविच्छेद) से और प्रबन्ध से नित्यता मानी जाती है।

इसके भाष्य में कहा गया है – स्वाभाविक (काय) की प्रकृति नित्यता है क्योंकि वह स्वभावतः नित्य है। धर्म (काय) और संभोग (काय) के अविच्छेद के कारण सांभोगिक की अश्रंसन–नित्यता है। (धर्मकाय को) अन्तर्निहित करके पुनः पुनः निर्माण दिखाए जाने के कारण निर्माणकाय की प्रबन्धनित्यता है। विभुता तो बताई ही गयी है। जैसे कि उत्तरतन्त्र में,

जिस प्रकार निर्विकल्पता के कारण आकाश सर्वत्रग (=सर्वव्यापी) है उसी प्रकार चित्तप्रकृति निर्मल धातु भी सर्वत्रग है।[73]

इससे क्या दिखाया गया है –

जो पृथक्जन, आर्य और सम्बुद्धों की अविकल्प चित्तप्रकृति है वह क्रमशः दोषों, गुणों और गुणविशुद्धिनिष्ठा इन तीनों अवस्थाओं में सामान्यलक्षण होने के कारण मिट्टी, रजत और सुवर्ण के पात्रों में सर्वदा समानरूप से अनुप्रविष्ट आकाश की भाँति अविशेषरूप से प्राप्त है।[74] उत्तरतन्त्र के ग्रन्थों में 'रूपगतेशु' का अर्थ है – मिट्टी, रजत और सुवर्ण के पात्रों में। 'गत' शब्द का अर्थ है– प्रकार। 'हरतेर्गतताच्छील्ये'[75] इस कात्यायनवार्तिक के व्याख्यान में पतञ्जलि के आशय की व्याख्या टीकाकार कैयट ने किया है कि 'गत का अर्थ है प्रकार'।[76] इस प्रकार गत, विध और प्रकार ये शब्द पयार्यवाची हैं। 'गतताच्छील्य' शब्द वृत्त के सतत अनुकरण अर्थ में रूढ़ है। (पूर्व उद्धृत श्लोक उ. त.–01/49) में आए हुए 'निर्विकल्पकतया' शब्द में इत्थंभूत अर्थ में तृतीया है।[77] (इससे चित्तप्रकृति का निर्विकल्पकत्व स्वभाव है यह बोधित होता है।) चित्त का प्रकृतिवैमल्य (=स्वभावतः वैमल्य) ही 'तथताधातु' है। इसलिए इसका नित्यत्व और व्यापित्व मुख्य है। फलस्वरूप धर्मकाय यदि द्रव्य (सत्) है तो आत्मवाद का परिहार कैसे ?

परिहार –

धर्मता का नित्यत्व और व्यापित्व सांवृत है। स्वाभाविक (काय) में भी (वे) क्षणित्व की भाँति यथाकल्प (=कल्पनानुसार) प्रसिद्ध ही है।

यहाँ पर भी हीन, मध्य और विशिष्ट में (='हीनमध्यविशिष्टेष्विति इस से[78]) धर्मी का निर्देश है। न तो व्यापित्वाभाव के कारण दिगम्बर (=जैन) मत की तरह अनात्मवाद है और न ही आत्मवाद में आग्रह है; (क्योंकि)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

'अविपश्यन् सदसन्निरीक्षते'[79] (=सत् को न देखते हुए असत् को देखता है।) इस दोष का उसी प्रकार अपरिहार सिद्ध है। सत्ता मानने पर भी श्रद्धेय (धर्मकाय) का आकारभाग (संभोगकाय) सत्य है। यह दुर्वारणीय है। "(आकारभाग की) यह सत्ता प्रज्ञप्तिमात्र है। श्रद्धेयभाग ही वस्तुसत् है। अत एव "संभोगकाय अलीक है वह न तो भिन्न है और न ही तदाश्रयप्रकाश के कारण असम्बद्ध है" (यह) कथन आगम और युक्ति से दूर है, काव्यमात्र है। (किन्तु) 'वह 'बुद्ध' नामक अर्थ अलीक है जिसका धर्मकाय सत्य है' यही सही स्थिति है।[80]

संभोगकाय की गौणता अथवा अलीकता का आक्षेप –

अपि च, इस प्रकार आश्रितमात्र होने के कारण (संभोगकाय) उपसर्जन (=गौण) और बुद्ध, धर्मकाय प्रभु (=मुख्य) है धर्म (काय) का बुद्ध (काय) यही सम्यक् निर्देश है। यदि कहें कि दोनों {=धर्म (काय) और बुद्ध (काय)} बुद्ध है, तो प्रश्न है कि प्रत्येक बुद्ध है कि समुदाय ?इस प्रकार के विकल्प होने पर 'बुद्ध एक है, तदंश अलीक है और भ्रान्त भी' यह भी ठीक होगा, क्योंकि बुद्ध और भ्रान्ति का विरोध है। अपि च, वह अलीक संभोगरूप में निर्माण (काय) का हेतु कैसे होगा ?[81] जैसा कि सूत्रालंकार में कहा गया है –

'दोनो में सर्वाकार द्वयार्थसम्पत्ति प्रतिष्ठित है।'[82]

इसका भाष्य है – 'स्वार्थसम्पत्तिलक्षणकाय संभोगकाय है। परार्थसम्पत्तिलक्षण निर्माणकाय है। यह परार्थसम्पत्ति[83] क्रमशः स्वाभाविककाय और सांभोगिककाय में प्रतिष्ठित (=आधारित) है।'[84] ऐसी स्थिति में धर्मकाय का फल और निर्माण का हेतु है–परार्थसम्पत्ति। (आप चूँकि संभोगकाय को अलीक कहते हैं अतः) स्वार्थसम्पत्तिलक्षण संभोगकाय असत् होते हुए भी ख्यात हो रहा है यह महान विप्लव है। फलस्वरूप, संभोग में स्वार्थसम्पत्तिवाद आकार में अलीकता की प्रतिज्ञा को दूर करता है। इससे 'श्रद्धेय (=धर्मकाय) के ही बुद्धत्व अथवा सत्यत्व होने पर भी 'संभोग' कार्य के लिए आदरणीय है' यह कल्पना अपास्त हो गयी। इसलिए अणु फल के भी अभाव से और कलंकरूप होने से, कोई भी व्यक्ति प्रयोजनवश छोटे दोषों की उपेक्षा करके रह सकता है किन्तु प्रयोजनशून्य और स्थूल, प्रधानदोषभ्रमराशि का आदर कौन करेगा।

'कर्मवश उस (=संभोगकाय) का उदय माना जाता है' यह कहना भी उचित नहीं है। अवश्यत्याज्य (संभोगकाय) के हेतु 'कर्म' का आरम्भ ही नहीं हो सकता; जैसे कि एक पातक जो कि अवश्यत्याज्य है का हेतु

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पातकान्तर उत्पन्न नहीं होता। 'तथागत की भ्रान्ति कर्म के अपराध से होती है' यह भी सुभाषित है। इस प्रकार से इस (=संभोगकाय) का सर्वथा उपरम ही प्राप्त है। किञ्च बोधिसत्त्व नाम वालों के द्वारा पुरुषों के द्वारा निराकारता के कारण असेव्यता होगी।[85] (इस आक्षेप को दूर करने के लिए यदि मुख्य धर्मकाय में आकार मान लें तो कहते हैं कि) आकार मानने पर यह मुख्य गजस्नान होगा।

(इसी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि) निराकार की प्रतिज्ञा निराकार की प्रसिद्धि के लिए है। आकार मानने पर भी (यदि निराकार) स्वीकार किया जाय तो इससे बड़ा अपमान क्या होगा?

ये दो अन्तरश्लोक हैं।

उक्त आक्षेप का वारण—

जिस प्रयोजन की इच्छा से उस (=संभोगकाय) का वारण कर रहे हैं उसमें श्रद्धेय (=धर्मकाय) का कौन सा शक्तिप्रतिरोध है?

यदि उसकी शक्ति है, तो उस शक्ति को सब जगह बताइए। कारणस्थिति का शरण अन्वयव्यतिरेक नहीं है।

इसलिए निराकारवादी केवल विमल, अनन्त, आकाश की भाँति अशेषशक्तिमान् (धर्मकाय) में रूप (काय) को साध्य मानें। इस दर्शनान्तरं को स्वीकार कर लें, अन्य अनुशंग (=झमेला) से क्या लाभ? आर्य मैत्रेयनाथ के मत का अतिक्रमण करके कौन सी बौद्धस्थिति है। संक्षेपतः वह (ही कहते हैं कि),

यहाँ पर वेद्यवेदकद्वय मिथ्या है। समारोप और अपवाद निराकरणीय हैं। त्रिधातु विचित्र (=चित्राकार) विज्ञानरूप हैं। इस प्रकार परार्थसम्पत् के कारण स्वार्थसम्पत् संभोगकाय की स्तुति की गयी है।

लक्षण और अनुव्यञ्जन के प्रस्ताव में कहीं भी 'यह बुद्धरूप औपचारिक है, तात्त्विक नहीं' अथवा यह(=संभोगकाय) तत्वतः बुद्ध (=धर्मकाय) रूप (=तादात्म्यापन्न) नहीं है अथवा औपचारिक है' यह प्रदर्शित नहीं किया गया। धर्मकाय की प्रधानता से बुद्धव्यवहार का प्रस्ताव होने पर भी अर्थात् धर्मकाय की प्रधानता से धर्मकाय को बुद्धकाय कहे जाने पर भी (संभोगकाय का) न तो असत्व और न ही उपचार प्रदर्शित किया गया है, क्योंकि लक्षणादि चक्रवर्ती के भी देखे जाते हैं। सूत्रालंकार में भी (कहा गया है),

'सभी चित्र लक्षणों से विभूषित गात्र वाले'

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

(उसके) भाष्य में लिखा है– 'चित्रग्रहण चक्रवर्त्यादिलक्षणों से विशेषणार्थ है अथवा चित्रग्रहण चक्रवर्त्यादिलक्षणों से विशेषणार्थ(=भेदार्थ) है।' यद्यपि उसके अतिक्रम में भी लिखा है कि–"भगवान ने सभी ज्ञेयावरण का प्रहाण कर लिया है अतः उनमें भ्रान्ति की संभावना न होने से वे आदर्शज्ञानरूप हैं। सम्पूर्ण ज्ञेयबिम्ब के उदय के कारण प्रतिक्षण एक ज्ञानचक्रात्मा हैं। इसलिए चक्रचिह्न हैं। सभी ज्ञेय–प्रतिबिम्ब–संवेदन ही इनका सर्वज्ञेयसंबोध है। अत एव सर्वधर्मस्वरूपावबोध के कारण 'अतिशय बुद्धि हो जिसमें'[86] (इस व्युत्पत्ति से) उन्हें बुद्ध कहते हैं।" इससे स्व और पर ही लुप्त हो गया,[87] आकार की ही भ्रान्ति व्यवस्था होने से प्रशस्तबुद्धियोग और ज्ञेयावरण का प्रहाण किसमें होगा ? जब अलीक को अलीक ही जानता है तो फिर अतद् में तद्ग्रहरूप भ्रान्तिवाद का प्रसंग भी (कैसे) होगा ?

विज्ञानाकार के निराकरण कर देने पर न तो मन्त्रनय और न ही पारमितानय की स्थिति हो सकती है, इसलिए निर्दोश स्वर्गीय गुणरत्न भूशित मनोज्ञता (साकारसंवित्) मान्य है।

संभोगकाय में पुनः आक्षेप–

(क्या) अलीक होने पर भी तत्तदर्थों में समर्थ संभोगकाय अभीष्ट ही है अथवा सामर्थ्य होने पर भी विशुद्ध होने के कारण ही उस (=संभोगकाय) के उपसंहार द्वारा आकाशसदृश धर्मकाय के साक्षात्कारस्वरूप अवस्थान्तर है ?

परिहार – ऐसा नहीं है। ऐसा मानने पर अश्रंसननित्यता के अतिक्रम का परिहार नहीं हो सकता। इस प्रकार से तो 'धर्मकाय से रहित और जगत के अर्थकारी भगवान हैं' यह प्राप्त हुआ। पर यह तो विरुद्ध है। जैसा कि उत्तरतन्त्र में कहा है–

लोकवित् महाकरुणा के द्वारा सम्पूर्ण लोक को देखकर धर्मकाय से अविचलित होते हुए विभिन्नरूप वाले निर्माण (कायों) से[89] जातकादि से लेकर निर्वाणपर्यन्त (चरित्र को) विस्तार से प्रदर्शित करते हैं। और फिर,

'जिस प्रकार ब्रह्मा ब्राह्मपद से अविचलित होते हुए देवलोक में विना प्रयत्न के ही प्रतिभास प्रदर्शित करते हैं, उसी प्रकार मुनि अनाभोग[90] धर्मकाय से अविचलित होते हुए सत्त्वधातुओं में निर्माण (कायों) द्वारा भव्यों को दर्शन देते हैं'[91] इत्यादि विस्तार से बताया है।

यदि प्रकृति (=स्वभावतः) परिशुद्धि की अपेक्षा से धर्मकाय से अविचलन (=अविच्छेद) कहा जा रहा है, तो यह सभी प्राणियों में समान है;

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

फलस्वरूप प्रबन्ध (=ग्रन्थ) द्वारा भगवान का यह धर्मकाय से अविचलन कहने में क्या अतिशय होगा ? इसलिए वैमल्य परिशुद्धि की अपेक्षा से ही यह विशेष (=अतिशय) है। केवल धर्मकाय के साक्षात्कार के समय जगत के कार्य सम्पादन के करण(=साधन) आभोगादि की अपेक्षा नहीं होती है, 'अतः समाधि के व्युत्थान के समय यह(=आभोगादि की अपेक्षा) मानी जाती है' इस शंका की निवृत्ति के लिए प्रयत्न किया गया है, इसी कारण 'अनाभोगान्निर्माणैः' (=अनाभोग से निर्माणकायों द्वारा) कहा है। इससे आत्मवादियों (=वेदान्तियों) के देहत्याग द्वारा तत्त्वाधिगम प्रवाद (=विदेहमुक्ति) के निषेध की सिद्धि हो गयी।[92]

प्रश्न– अथ समाधि और व्युत्थान द्वारा भी बार–बार चलन विवक्षित है फिर (धर्मकाय से अविचलन को सिद्ध करने के) इस परिश्रम से क्या लाभ ?

उत्तर– शुद्धि होने पर संभोगकाय से पर(=धर्मकाय) को प्राप्त होते हैं; अर्थसिद्धि हो जाने पर (पुनः) उस (=धर्मकाय) से संभोगकाय को प्राप्त होते हैं इस प्रकार से तो हमेशा डूबने उतराने वाले मद्गु (जलपक्षी) के समान ऋषि को स्वास्थ्यलाभ कब होगा ?

इस प्रकार से न तो परार्थ का अक्षुण्णविधान और न ही शाश्वती शुद्धि का पता चल पाता है, अत एव तुन्दिवृत्तान्त रहने दें।

यह जो कहा गया है कि 'धर्म ही बुद्ध है' वह ठीक नहीं है, क्योंकि भिन्नप्रवृत्तिनिमित्त होने पर भी जिन और मुनीन्द्र की तरह पयार्य होने से कल्पितभेद भी न होने से कायान्तर की व्यवस्था कैसे हो सकती है ?[95] किञ्च धर्मकाय से अविचलित होते हुए (=धर्मकायादविचलन्) यह वाक्य धर्म और जिन के पर्यायता का विरोधी है, क्योंकि 'सुगत का बुद्ध से अविचलित होते हुए' कहना ठीक नहीं है[96] बुद्धत्व से अविचलित होना ठीक है। जिस प्रकार 'ब्रह्मा, ब्राह्मय (पद) से (अविचलित होते हुए)' यह वाक्य एक (=ब्राह्मयपद) की प्रज्ञप्तिसत्ता बताता है उसी प्रकार यह वाक्य भी। वहाँ पर ब्रह्मा ही परमार्थसत् है तत् (=ब्राह्म) पद प्रज्ञप्तिसत् ही है। वह कोई वस्त्वन्तर नहीं है, क्योंकि आश्रय–उपकरण और आत्मभावविशेष होने पर पद–प्रज्ञप्ति होती है।

जब भी आचार्य पद की भाँति उपाधि–विशेष के सापेक्ष स्वरूप ही 'पद' शब्द का वाच्य है उस समय भी धर्मी से पृथक् की भॉति कल्पना से निर्दिश्यमान प्रज्ञप्ति–सत् ही है इसी तरह 'मुनि' और 'धर्मकाय' शब्द के वाच्यों में एक का प्रज्ञप्तिसत् होना प्राप्त होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

'धर्म ही वैसा (=प्रज्ञप्तिसत्) हो न कि अर्थक्रियाभाव के कारण मुनि। वह अर्थक्रियायोग यदि निराकार का भी हो तो फिर संभोगजन्मा क्यों कहते हैं?

इस स्ववचन का व्याघात होगा। किञ्च, मुनि भी निराकार होंगे; फलस्वरूप 'धर्मकाय से अविचलित होता हुआ' इस वाक्य का विपरीत अर्थ हुआ कि 'धर्मकाय शब्द का वाच्य संभोग (काय) ही प्रज्ञप्तिसत् है, अथवा संभोग प्रज्ञप्तिसत् है तथा धर्मकाय का वाच्य है अथवा प्रज्ञप्तिसत् संभोग, धर्मकाय का वाच्य है। उस (=संभोगकाय) की द्वय (=ग्राह्यग्राहक) शून्यता धर्मकाय है। यदि यह कहें तो भी संभोग का जन्म कैसे कहते हैं, क्योंकि उतने से ही अर्थसमाप्ति हो जाती है यह प्रतिपादित किया जा चुका है।

यदि कहें कि विभाजन कर दिया जाय कि संभोग की कोई कार्यकोटि है और कोई निराकार (विमल विज्ञानरूप धर्मकाय) की ? उत्तर देते हैं कि व्यवस्था का क्रियाभाव असहनीय है क्योंकि दोंनो (संभोगकाय और धर्मकाय) की समान प्रौढिता के कारण ब्रह्मा और तत्(=ब्राह्म) पद के दृष्टान्त की अनुपपत्ति है तथा प्रकरणों में वैसा प्रतिपादन नहीं है। संभोग(काय) में धर्मकाय जिस प्रकार कारण है यह दिखाया जा चुका है।[97] अथवा संभोग अथवा किसी अन्य कार्यसमूह में निराकार का व्यापार माना जाय, संभोग का तो वह सिद्ध ही है अत एव यही कहना चाहिए कि दोनों (संभोग एवं धर्मकाय) अनलीक हैं फलस्वरूप संभोग की अलीकता अथवा लोकोत्तर निराभास–ज्ञान की सिद्धि कैसे बतायी जा रही है ?

प्रश्न– बाधक के कारण अलीकता बतायी जा रही है ?

उत्तर– प्रतिबिम्बादि को छोडकर ब्रह्मा के दृष्टान्त से यदि संभोग की अलीकता सिद्ध करना चाहें तो प्रतिभास और अर्थक्रिया के अविच्छेद के कारण बाधशक्ति चिन्तनीय है। इतने से ही पूर्वोक्त उपसर्जनता (=गौणता) भी प्रत्याख्यात हो गयी। किञ्च, दोंनो की सामर्थ्यस्थिति में जब युवराज के अनुरोध से जैसा कि पूर्व में प्रतिपादित किया गया है अथवा अभी प्रदर्शित ब्रह्मपद के दृष्टान्त से द्वयशून्यता को ही धर्मकाय इस अपर नाम वाली धर्मधातु माना जाय तो निर्माण (काय) के पृथक् होने से श्रद्धेय (=धर्मकाय) चतुर्थ (काय) होगा।[99] सम्बन्ध के अभिधान एवं धर्म(काय) और संभोगकाय के अविच्छेद प्रतिपादन से द्वयशून्यता संभोग की ही है। संभुक्ति स्ववेदन से अतिरिक्त नहीं है। सूत्रालंकार में भी कहा गया है –

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कहीं वह सैकडों मुखों से धर्मचक्र को, कहीं जन्म और अभाव को, कहीं विचित्रता से परिपूर्ण सम्पूर्ण (सम्यक्) ज्ञान को और कहीं पर अनेकों बार निर्माणकाय को दिखाते हैं; किन्तु उस स्थान से विचलित नहीं होते । वे सब कुछ करते हैं।[100]

श्लोक में आए 'स्थानात्' का भाष्य में अर्थ है–अनाश्रव धातु से। वह अनाश्रव धातु है–धर्मकाय। उसके साक्षात्कार का स्थैर्य है–अविचलन। अथवा,

अभूतपरिकल्प नामक विचित्रचित्तचक्र से भिन्न होने के कारण निराकार, साकार और कल्पितादिस्वभाव से प्रसक्त(=प्राप्त) चतुर्थ स्वभाव चतुर्थ काय होगा। यदि कहें कि वही चित्त अथवा अभूतपरिकल्प है तो इस पर कहते हैं –नहीं, इस अर्थ का उद्घाटन तो उपायकारों ने भी नहीं किया है। अरे ! चित्त अप्रकाश और अचित्त प्रकाशमान नहीं है। पहले भी कह आए हैं – 'रूपादि अभूतपरिकल्पितस्वभावों में'।[101] कल्पित और विकल्पित–धर्मतारूपादि प्रस्ताव तो **मध्यान्तविभाग में अनुसरणीय है।**

यदि कहें कि यह अन्यथा व्याख्यान भी है ? तो उसके उत्तर में कहते हैं कि भले ही हो परन्तु न्यायानुसारी नहीं है। किञ्च, ऐसे तो अलीक नाम वाला आकारसमूह ही पृथक्स्वभाव होगा। यदि कहें कि कल्पित में अन्तर्भाव होता है ? तो कहते हैं कि किसमें किसकी कल्पना ? यदि कहें कि निराकार में आकार की; तो कहते हैं कि अप्रतिभासी में प्रतिभासमान कल्पित अथवा आरोपित कहलाता है यह कार्यदृष्टि हो सकती है, किन्तु प्रकाश में अप्रकाश (और) आकार में अनाकार, अन्य की भाँति आरोपित कहलाता है; अतः उस (=अनाकार) का ही (तुम्हारे मतानुसार जो) कल्पित में अन्तर्भाव है। इसलिए,

विकल्पभासी वपु (=आकार) वाले धर्मों द्वारा भेदाभेद से आवर्जित, निष्पन्न, परतन्त्रधर्मी, अनुगत जो शून्यता नाम से अभिमत है वही स्वाभाविक(काय)कहलाता है । वह संभोगकाय के उदय होने पर धर्मों की प्रकृतिध्वनि(=धर्मों के 'मूलकारण' शब्द) से व्यवहृत धर्म(काय) नामक शरीर कहलाता है। यह प्रकरणार्थ है। इसलिए यदि प्रवचन में प्रकीर्ण अर्थों का संकलन ही युवराज की नीति है तो,

वाणी की यह स्फुटतर गति है। प्रकरणान्तर की ऐसी संगति है और प्रमाण के भेदों के बल का विचार किया गया है। व्याख्यान तो अपनी–अपनी रुचि के अनुसार होंगे। परिणामस्वरूप निराकारवाद की बात भी नहीं है।[102]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आक्षेप– उत्तरतन्त्र में अनुत्तर बुद्धगुणों का आरम्भ करके श्लोक है–

स्वार्थ, परार्थ, परमार्थकायता और तदाश्रितसंवृतिकायता, विसंयोग और विपाकभाव से फल (अर्थात् विसंयोगफल और विपाकफल) ये चौंसठ गुणों के भेद हैं।[103]

वहाँ स्वार्थ और परार्थ जो धर्मकाय (और) संभोगकाय का अनुवाद करके यथाक्रम परमार्थकायता और संवृतिकायता (तथा) विसंयोगफल और विपाकफल का विधान किया गया है। वहाँ संभोगकाय का सांवृतत्व प्रतिपादन अनाकार परमार्थ (धर्मकाय)को उपस्थापित करता है, तो फिर 'निराकार की वार्ता भी नहीं है' यह कैसे कहते हैं? वहीं पर उसका विवरण भी,

ऋषि का पारमार्थिक शरीर आत्मसम्पत्ति का अधिष्ठान है और परसम्पत्ति का अधिष्ठान सांकेतित शरीर।

आद्य शरीर बलादि विसंयोग गुणों से युक्त है जबकि द्वितीय महापुरुषलक्षण विपाकगुणों से।[104]

समाधान– यह आत्म–इच्छा की पूर्तिमात्र के लिए प्रयुक्त व्याख्यानमात्र है। धर्मकाय की द्रव्यधर्मता के निरूपण में इसका खण्डन भी किया जा चुका है। अन्यथा नाथ बुद्धगुणों का वर्णन आरम्भ करके परार्थसाधन में असाधारण निर्माणकाय को बिना बताए शान्त हो जाते और वहीं पर कैसे,

अकृत्रिम होने से और प्रकृति के गुणरत्नों के आश्रय होने से शुभ स्वाभाविक–काय को रत्नविग्रह की भाँति जानना चाहिए।

महाधर्माधिराज होने से संभोगकाय चक्रवर्ती की तरह है। प्रतिबिम्बस्वभाव होने से निर्माणकाय हेमबिम्ब की भाँति होता है।[106]

इन श्लोकों से स्पष्टतः बताए गए निर्माणकाय के सांवृतत्व को विस्मरण करके आ(श्र)य स्थान बनाए गए धर्मकाय से महाधर्माधिपत्य द्वारा चक्रवर्ती की उपमा से उत्कर्षित संभोगकाय में योजित करते ? आर्यनागार्जुनपाद भी कहते हैं कि,

'मैं यहाँ महाधर्मराज्य में प्रतिष्ठित संभोगकाय की वन्दना करता हूँ।'

यह श्लोकार्थ है। स्वार्थ और परार्थ, धर्म (काय) और संभोगकाय को उद्देश्य करके, परमज्ञान का विषय होने से और परमसाध्य होने से परमार्थकायव्यवहार का ही विधान किया जाता है। इसी प्रकार परमार्थ–संगृहीत कायद्वय का अभिधान करके तृतीय (काय) बताया है और तदाश्रित संवृतिकायता को भी बताया है, क्योंकि प्रतिबिम्ब की उपमा से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

निर्माणकाय का सांवृतत्व प्रतिपादित है। यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि संभोग में आश्रितत्व साक्षात् है, जबकि धर्मकाय में परम्परया। उसकी विवृति(=व्याख्या) में परमार्थ शब्द के अभिधेय आदिम कायद्वय (धर्म और संभोग) को उद्‌देश्य करके स्वार्थसम्पत्यधिष्ठानता का विधानं गया है। वहीं पर,

परिषद् के मध्य विद्वानों की प्रसन्नता के लिए जो महान, लोकातीत, अचिन्त्य, स्वयं द्वारा किए गये सैकडों कर्मों की फलरूप, अपनी विचित्र विभूति का विस्तार करते हैं।

उस (=विभूति) का आश्रय संभोगकाय है, यह स्पष्ट है। उस (=संभोगकाय) का आश्रय धर्मकाय तो दिखाया ही गया है। मूल (श्लोक) में पश्चार्द्ध (=उत्तरार्द्ध) द्वारा बिम्बोपमा द्वारा लोकप्रसिद्धि से सांवृत–पद बताया गया है। व्याख्या में 'बुद्ध' ऐसा कहते हुए निर्माणकाय के विषय में संकेत किया है। 'यह बुद्ध ही है' ऐसी बात नहीं है किन्तु सांकेतिक कथन है। इस(=सांवृत निर्माणकाय) का पौरुषबल बाह्ययोगी साधारण अतिप्रतीत है इसलिए पृथक् नहीं कहा गया। स्वरूपतः तो तीनों ही (काय) असाधारण गुण हैं।

प्रश्न– इसी प्रकार से परमार्थ शब्द को शून्यता के अर्थ में लिया गया है फिर संभोग के अर्थ में इसकी व्याख्या कैसे कर रहे हैं ?

उत्तर– ऐसी बात नहीं है। दोनों का अर्थ भिन्न है। शून्यता परमज्ञान का विषय होने से परमार्थ है, जबकि संभोगकाय परमप्रयोजन होने से स्वार्थसम्पद् है। 'स्वार्थ अर्थ(=प्रयोजन) हो जिससे' इस व्युत्पत्ति को मानकर संभोग के विषय में प्रदर्शित 'स्वार्थ' शब्द धर्मकाय के अर्थ में प्रयोग किया गया है इसलिए अर्थभेद होने से दोष नहीं है।

प्रश्न– धर्मकाय भी साध्य कहा जाता है अतः 'स्व अर्थ=प्रयोजन हो जिसका' इस व्युत्पत्यर्थ की (क्या) हानि नहीं है ?

उत्तर– सच है किन्तु यह व्यवस्थामात्र है। संभोग की भाँति निर्वर्त्य(=उत्पन्न) होने से धर्मकाय की साध्यता नहीं है, अतः अर्थभेद है। इसी प्रकार निर्माणकाय में परार्थता साक्षात् है, जबकि संभोग में तद्(=निर्माण) द्वारा; अथवा केवल 'परमार्थ' शब्द शून्यता का पर्याय है, जबकि 'परमार्थकाय' शब्द प्रमााणसिद्धि द्वारा धर्म–धर्मी का (पर्याय) है, अत एव विरोध नहीं है। इस प्रकार के श्रद्धास्पद विषयों के साथ कब तक बंधा रहा जा सकता है। परिणामस्वरूप यह बात रह गयी कि 'निराकारवाद की बात भी नहीं है'।[108]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रश्न— आचार्य दिग्नागपाद ने इस सम्पूर्ण अर्थ के विषय में यह क्यों कहा है कि –

सम्पूर्ण दर्शन यह है कि, यह कल्पित का निषेध है। विज्ञान में कल्पित सम्पूर्ण आकार ज्ञेयतया आरूढ़ है।

उत्तर— इसका अर्थ यह है— विज्ञान में आरूढ़ सम्पूर्ण आकार (विज्ञान में) ज्ञेयतया कल्पित है। उस कल्पित का निषेध ज्ञेयतया ग्राह्यत्व का निषेध है। यथा कि आचार्य स्थिरमति ने कहा है –

"तद् (=अर्थ) का अभाव होने से तद् (=विज्ञान) भी असत् है।" ऐसा आचार्यस्थिरमति ने कहा है।

अर्थाभाव के कारण विज्ञाता के रूप में विज्ञान असत् है न कि अर्थसत्त्व–आत्मविज्ञप्ति प्रतिभासतया, क्योंकि अर्थ की असत्ता में सर्वथा अभाव का प्रसंग होगा। उसके विना विज्ञानस्वभाव का अभिधान नहीं है; अथवा विज्ञान यदि तद् (=अर्थ) व्यतिरिक्त स्वभाव है, तो वह तद्विज्ञान कैसे है ? अथवा अर्थ और विज्ञान परस्पर भिन्न कैसे है ?

प्रश्न— निराकार (विज्ञानवादी) पूँछता है कि तो फिर इस पर क्या करना चाहिए ?

जो असत् ही ख्यात होता है वह अविद्यानिर्मित होता है, क्योंकि असत्ख्यापनशक्ति होने पर ही वह अविद्या कहलाती है।

यह बन्धकी–मृत्यु–वृत्तान्त[109] उपस्थित हो गया। किसी प्रकार एक का निस्तार कर देने पर अन्य (परेशानी) का संयोग आ गया।

उत्तर— ठीक है। यहाँ भी आपकी ही भ्रान्ति है क्योंकि आपने पूर्वापर का परामर्श नहीं किया। वह भी इस तरह से कि,

इसलिए 'बुद्ध, बोधि नहीं जानता' आदि शब्दों के द्वारा समाप्ति पर्यन्त कल्पितों की ही निराकारता जाननी चाहिए।

इस विषय में आप भी क्या करेंगे, यदि कहीं पर प्रकाश का भी निषेध इष्ट हो ? इसलिए अविद्या शब्द से 'विकल्प' का ही अभिधान होता है। उस अविद्या से निर्मित बाह्य असद्रूप ही है। रूप और शून्यता के भेदाभेद के निषेध के प्रस्ताव में यह बताया जा चुका है, अत एव दोष नहीं है। फलस्वरूप ख्याति का अर्थ है – अध्यवसाय।

अविद्या के वशीभूत होकर अपने स्वरूप को छिपाकर माया की भाँति अन्यथा भासित होता है यहाँ स्वाभिमत 'भाति' (=अध्यवसाय) का यही अर्थ है।[110]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

माया–हस्ती में हस्ती प्रतीत नहीं होता, किन्तु अध्यवसित होता है। ऐसा मानने पर रजतादि भी प्रतिभात (=अध्यवसित) होते है अतः (वहाँ पर) द्वैविध्य का विलोप (=अभाव) है इसलिए भी इस प्रकार मान्य है,

प्रज्ञा पारमिता में कल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न इन तीन को आश्रित करके देशना की गयी है।

'नास्ति' इत्यादि सभी पदों से कल्पित का निवारण किया जाता है। मायोपम आदि दृष्टान्तों से परतन्त्र की देशना की गयी है।

चार प्रकार के व्यवदान द्वारा परिनिष्पन्न को बताया गया है। प्रज्ञापारमिता में बुद्ध की अन्य देशना नहीं है।[112]

यह अक्षुण्ण (=सम्पूर्ण) पारमिता नयार्थ का अनुगम है। यहाँ पर 'परतन्त्र का भी आकार असत् है प्रकाशमात्र सत् है' किन्तु यह नहीं बताया गया जिससे कि पारमितानय से इस अंश के कारण भेद हो सके; और न ही 'स्वाभिमत को स्फुटित करके तदर्थ (=प्रज्ञापारमिता का अर्थ) भी ऐसा ही समझना चाहिए' यह अतिदेश भी किया गया। साध्य में विशेष (=भेद) प्रदर्शन भी नहीं है जिससे कि उस प्रकार (पारमितार्थ का) उन्नयन किया जा सके। क्योंकि,

पारमिताज्ञान अद्वय है। वह (=पारमिता) तथागत है।[113] (वही) साध्य है। इससे,

ग्राह्यग्राहकमात्रशून्यता का प्रतिपादन किया गया है। अन्यथा (यदि ऐसा न मानें तो) निराभासता ही वाच्य होगी। वही आकार ग्राह्य और ग्राहक नहीं हो सकता। क्योंकि उसमें तत् (=दोनों) ग्राह्य और ग्राहक के लक्षण (=स्वरूप) का अयोग है, अतः ग्राह्यादि तत्त्व कल्पित अथवा भिन्न हैं और 'संभोगकाय लौकिक है या औपचारिक' यह विशेषरूप से कहा जाता, क्योंकि भगवती (=प्रज्ञा पारमिता) का पिण्डार्थ आरब्ध है और अन्यत्र ऐसा बताया भी नहीं गया। इन (साकारविज्ञानवादियों) का आदर्श वार्तिक के अलावा कौन हो सकता है ? किसी की आवश्यकता भी नहीं है; इसलिए अपनी गन्दगी दूसरे के ऊपर क्यों थोप रहे हो ?[114] अथवा स्वयं ही,

कहीं पर गुण ही हैं उत्तम रूप नहीं। कहीं पर रूप हैं विशेष गुण नहीं। यह तो असाधारण योगसम्पद् है कि आपको गुण और रूप दोंनो आश्रित किए हैं।

अब विशेषाभिव्यक्ति से और प्रयोजन नहीं है। हमारा ग्रन्थकार के यावत्संभव आशय के समर्थन का प्रयास नहीं है। ये सब एकवंश से संमत हैं। जैसे कि,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कामजित् बुद्ध के मत के वाहक भूपतीश (=कुमारनाथ) आर्य असंग के अनुगामी हैं। उद्धुरमति आचार्य वसुबन्धु उन (असंग) की आज्ञा से उद्द्योतित हैं। दिग्नाग, कुमारनाथ के विधान के असामान्य सहायक हैं। उन्हीं दिग्नाग में वार्तिक और भाष्यकार इन दो कृती आचार्यों की आज तक अनवद्य स्थिति है।

अबाध्य स्वसंवेदन स्वीकार किए जाने से आर्यनागार्जुनपाद के भिन्नवंश का होने पर भी साध्यतत्त्वस्थिति साधारण ही है। तो इस प्रकार–

कुछ लोग बुद्ध को विज्ञानरहित अलीकरूपवपु मानते हैं। अन्य अभ्रान्त, संविद्रूप, अरूप आकाशसदृश मानते हैं। अन्य लोग अलीक, सुन्दरतनु, भ्रान्ति से विमुक्त और संविद्रूप मानते हैं। कोई तो इसे अलीकता से रहित 'जैसा भासित होता है' वैसा ही ग्राह्य मानते हैं।

निष्कर्ष–

इसलिए संभोगधर्म धर्मकाय की ही सिद्धि हो जाने से अन्य की क्या आवश्यकता ? यदि कोई अन्य हो भी तो भेद के कारण भिन्न वेदन होगा फलस्वरूप वह उसका स्वभाव कैसे होगा ? जैसे कि, एकदेश होने पर भी आरूप्यधातु।[116]

आगम द्वारा चित्राद्वैतविज्ञान की सिद्धि –

प्रश्न– आदर्शादिज्ञान चतुष्टयस्वभाव[117] वाले भगवान पारमितानय में ही वर्णित हैं तो फिर प्रस्तुत में विमति क्यों ?

उत्तर– वहाँ पर भी चित्राद्वैत की स्थिति से निर्वाह हो जाता है। निराकार में तो परस्पर भेद ही दुर्लभ है; अतः कहते हैं कि, परस्पर भेद कैसे? यदि भेद मानें भी तो परस्पर असंवेदन होने पर वही (=भेददौर्लभ्य) दोष है। चित्राद्वैत स्वीकार कर लेने पर तो अन्य की आवश्यकता ही क्या है? यदि कहें कि चित्राद्वैत भी तो नहीं बताया गया, तो कहते हैं कि साकारवादिता के द्वारा उसका आक्षेप कर लेंगे, जैसे कि कार्य से कारण का आक्षेप कर लिया जाता है। वार्तिककार ने भी तो तत्साधनैकप्रवण (=चित्राद्वैतमात्र को सिद्ध करने में प्रवण=चतुर, युक्तियुक्त) प्रमेयराशि का उल्लेख नहीं किया फिर भी उनकी उक्तियों से जिससे उसकी प्रतिष्ठा हो सके उसका आक्षेप कर लिया जाता है उसी प्रकार यहाँ पर भी कर लिया जायगा। यह प्रदीप द्वारा प्रदीप की खोज है। 'चतुर्ज्ञानस्वभाव वाले भगवान एक ही है' यह प्रस्तुत करते हैं और चित्राद्वैत की खोज करते हैं। इसी प्रकार चित्रलक्षणादि की उक्तियों के बारे में भी कहना चाहिए।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अत एव जो सूत्रालंकार में कहा गया है – 'वे विकल्प ही प्रवृत्त होते हैं न कि द्वयाभास अत एव व्यवदान मानना चाहिए।[119] वहाँ पर द्वयाभास का अर्थ है– "द्वयावसायी"। विकल्प शब्द का अर्थ अभूतपरिकल्प नहीं है किन्तु कल्पना है। इसीलिए बहुवचन का प्रयोग किया गया है और यह उचित भी है। कहीं भी 'द्वय' शब्द का अर्थ ग्राह्य–ग्राहक से भिन्न नहीं कहा गया। उन दोनों (=ग्राह्य–ग्राहक) की साक्षात् ख्याति नहीं है, किन्तु मायाहस्ती में हस्ती की भॉति मात्र अवसाय है; अन्यथा जब ही सर्वाकार का क्षय(=विनाश) है, तभी व्यवदान है फलस्वरूप संभोग स्वार्थसम्पत्ति कैसे होगा ? इस प्रकार तो सारी व्यवस्था का विलोप प्रसक्त होगा। प्रश्न करते हैं कि आकार और अनाकार की सत्यता–असत्यता के प्रतिपादनाभाव होने से सर्वव्यवस्था विलोप प्रसंग का परिहार कैसे होगा ? अत एव उन्नयन करना चाहिए तो उत्तर देते हैं कि 'नहीं, ऐसा करने पर अन्य अर्थ होगा' तथा प्रतिपादन करने पर (जैसा कि हमने अवसायपरक प्रतिपादन किया है) अन्यार्थ कल्पना नहीं है। वहीं पर –

वह अर्थों को जल्प (=विकल्प) मात्र जानकर तत्सदृशचित्तमात्र में अवस्थित होता है।[122]

इसके भाष्य[123] में 'मनोजन्यमात्र अर्थों को जानकर तदाभास चित्तमात्र में व्यवस्थान बोधिसत्त्व की निर्वेधभागीयावस्था है।[124] उसके पश्चात् धर्मधातु का प्रत्यक्षताज्ञान किया जाता है। यह दर्शनमार्गावस्था है।[125] इसमें निर्वेधभागीयावस्था भी नहीं है। दर्शनमार्गावस्था में आकार का भ्रंश बताया गया है न कि कहीं भी भावनामार्ग में। ग्राह्य–ग्राहकलक्षण का क्षय तो सर्वत्र बताया गया है। इसलिए ग्राह्य–ग्राहकतया संग्रहीतप्रपञ्चकल्पना फिर से नहीं होती अतः व्यवदान पर्येषणा (=इच्छा), अर्थ (=प्रयोजन) है।

प्रश्न– भावनामार्ग[126] में संगृहीत सप्तमी भूमि में साभोग अनाभोग, अष्टमी में निमित्तवर्जन[127] बताया गया है तथा निमित्त है–आकार; तो क्या यह नागलोक की भाषा है या आचार्यमुष्टि ?[128] अपि च, भ्रान्ति का अवलम्ब होने से प्रपञ्च (=वासनारूपी संसार) से निर्मित भ्रान्ति का निमित्त आकार ही लिया जायगा ?

उत्तर– ठीक है; आकार को रहनें दें; बाह्य (तया आकार की) सत् (त्व) की भी भ्रान्तिहेतुता का नियम (आकार) नहीं है क्योंकि भ्रान्ति वासनामात्रानुबद्ध है।[129] यद्यपि स्थिरभ्रान्ति का कारण सादृश्य भी है फिर भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह मत अनार्य (बौद्धेतर) का है (अत एव) वासनाविशेष ही (भ्रान्तिनिमित्तरूप) अवशिष्ट रहता है। यदि कभी भ्रान्ति के संवास (अवस्थित) से परिहार मानेंगे तो प्रथमतः निराकार का ही (परिहार करना) होगा। अथवा 'जो कोई भी अनाकार दर्शना (ज्ञाना) दि की भाँति भ्रान्ति का निमित्त उपपादित किया जा सके वही निमित्त शब्दाभिधेय निवर्त्य माना जाय' फिर आपके कथन में विश्वास कैसे करें? परिकल्पित धर्मों में स्वयमेव कार्यकारणभाव का निषेध किया जाता है क्योंकि वे अलीक हैं। 'अलीकसम्मत आकार की भ्रान्ति में शक्ति है[130] यह सुव्यवस्थित है।[131] यदि कहें कि तदालम्बन विकल्प के कारण उस (=अलीकसम्मत आकार) की भ्रान्ति में शक्ति मानी जाती है? तो कहते हैं कि विकल्प को ही हेय मानें। आपका वह आकार स्वयमेव भ्रम है अतः निमित्त कहने से क्या लाभ? यदि प्रबन्धसापेक्ष निमित्त कहा जायगा, तो सभी हेयों के 'निमित्त' शब्द से कहने की ही स्थिति होगी। निरालम्बन की आलम्बनता भ्रान्त है, तत्त्वतः नहीं। संवृतितया हो भी तो वह हेयता का कारण नहीं है । अतः इस पूतिकूष्माण्डसदृश से क्या लाभ?[132]

इसलिए प्रसिद्ध ही वस्तुधर्मसम्मत भेदव्यवहारहेतु विप्रयुक्त संस्कार[133] निमित्त शब्द से ग्रहण किया जाता है जिसे उद्ग्रह, संज्ञा और हेय भी कहा जाता है, क्योंकि वह भिन्न नहीं है। यदि उसकी भी स्वालम्बन विकल्प द्वारा ही भेदव्यवहार की कारणता अभीष्ट है तो विकल्प ही हेय है। सत्य ही आकार की भाँति स्वयं स्फुरण न होने से वही (=स्वयं स्फुरणाभाव) उसका हान है। यदि आकार का परिहार मानेंगे तो इसीलिए "इस भूमि में उपायपारमिता अतिरिक्ततर होती है, क्योंकि सभी निमित्तों को अनिमित्तों के रूप में प्रतिविधान करती है। तत्कृतव्यवहार का विरोध नहीं करती" इस व्याख्यान का विरोध नहीं है। तत्कृतव्यवहार भेदव्यवहार ही है यह भाष्य और टीका द्वारा दिखाया गया है। आकार को न मानने वाला तो इसके विषय में सोच भी नहीं सकता। उसी समय आकार का परिभव होने पर भगवान का आदर्शज्ञान संभव नहीं है। "यह लौकिक है" यह कहना स्वकपोलकल्पित है क्योंकि आर्यराजस्मृति का अभाव है। पूँछते हैं कि फिर सूत्रालंकार में आदर्शज्ञान के निर्देश में ही "सर्वज्ञेयों में असंमूढ है उनमें सदा आमुख नहीं है"[134] (ऐसा कहा गया है)। उत्तर देते हैं कि [135]'यह दोष नहीं है वस्तु ज्ञान प्रकारों का लक्षण है – आकार; इस अभिप्राय से कहा गया है। ज्ञेय प्रतिबिम्ब

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के उदय होने पर भी तद्ग्रहण प्रकाराभाव के कारण आमुख नहीं कहते। यह आदर्शज्ञान से ही सुव्यक्त है। उसके पश्चात् ही– और वह संभोग–बुद्धताज्ञानप्रतिबिम्बोदय से, इसके भाष्य में, 'संभोगबुद्ध है, ज्ञानप्रतिबिम्बोदय के कारण वह आदर्शज्ञान कहलाता है।' आचार्यस्थिरमति ने भी 'अर्थसत्त्वप्रतिभास के अनाकार होने से' इसकी व्याख्या 'अग्राहकत्वात् (=अग्राहक के कारण)' ठीक ही की है। आर्य वसुबन्धुपाद ने भी अन्यत्र स्वयं 'अनाभास' शब्द की 'निर्विषयार्थता' व्याख्या की है।

सर्वज्ञसिद्धि–

प्रश्न– ज्ञेयाभाव में ज्ञेयप्रतिबिम्बोदय कैसे?[136]

उत्तर– बताते हैं कि, महाकरुणा से परिपूर्ण परार्थ–सम्पादनाभिप्राय वाले (बोधिसत्त्व) की बाह्य से (चित्त को हटाकर) विज्ञानमात्र में (चित्त को लगाकर) यथा प्रतिपरमाणु और प्रतिक्षण सर्वाकार सर्ववेदन प्रणिधि होती है तथा तथा ज्ञानोदय होता है। उसी स्थिति में बाह्यार्थाभाव होने पर भी चित्तसन्तति–विवर्तभेद से भिन्न–भिन्न आकार होते हैं (वहाँ) तदाकारोत्पत्ति सम्वेदन ही तत्संवेदन है। बाह्य जड़ में भी यह प्रसंग नहीं है, क्योंकि प्रकाशमात्र की ही सत्ता सिद्ध की गयी है। फलस्वरूप सन्तानान्तर इतर का प्रकाशक अथवा इतर से प्रकाश भले ही न हो स्वप्रकाश(तया) सत् ही है। जड़त्व की प्रच्युति के कारण जड़ में यह (=स्वप्रकाशत्व) नहीं हो सकता। प्रतिवादी कहता है कि यह ठीक है किन्तु केवल सन्तानान्तर की सत्ता में क्या विश्वास करें ? वादी उत्तर देता है कि उसके लिए सन्तानान्तर सिद्धि की जाती है। यहाँ पर सन्तानान्तरसिद्धि अप्रासंगिक है (अतः हम उसका यहाँ निरूपण नहीं करेंगे)।[137]

आक्षेप– व्यंग्यपूर्वक आक्षेप करते हैं कि इसका आशय गम्भीर है हमारे समझ से परे है। तत्प्रबिम्बसंवेदन ही सार्वज्ञ्य है जो कि प्रकृत है। प्रणिधान तो परचित्ताकारवेदन सापेक्ष है। यदि पर (चित्तसन्तान) है तो तथा (परचित्ताकारवेदन) रहे या न रहे; किन्तु "मुझे इस रूप वाले (तथा) परिभाजनोपकरण होना है" इस नियतरूपभावना से तदाकारोदय (परचित्ताकारसंवेदन) होता है। यही है– सर्ववेदन। इस स्थिति में कोई हानि नहीं है; किन्तु जब पर के प्रश्नाकार का उदय होता है तो हन्त ! 'मैं प्रतिविसर्जनाकार(=प्रत्युत्तराकार) होऊँ' इस प्रकार की प्रणिधि ही (परचित्ताकार संवेदन का) साधन है। यह तो उस (=उत्तर) की सत्ता में ही हो सकता है।[138]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitized by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

समाधान –

ऐसा होने पर भी अधिमोक्ष संभव होने से प्रणिधि की कोई हानि नहीं है। यदि कहें कि उस समय तो अधिमोक्ष नहीं है तो कहते हैं कि सन्तानान्तर होने पर ऐसा होगा। यदि सन्तानान्तर न हो तो भी शुभसञ्चयसचिव (बोधिसत्त्व) की स्वरूपाधारोपकरणसंपत्ति ही होगी, साध्यक्षति नहीं है। इस प्रकार स्वाकार–अज्ञेयारोप ही ज्ञेयप्रतिबिम्ब शब्द के वाच्य हैं।[139]

प्रश्न करते हैं कि अनिश्चय में प्रणिधि कैसे ? उत्तर देते हैं कि परोपदेश से, सत्त्वाधिमोक्ष से और बाधकाभाव से प्रणिधि हो जायगी; इसमें कोई दोष भी नहीं है, अथवा यही स्वार्थसामग्री है।

निराकार विज्ञान का खण्डन–

इस विषय में निराकार विज्ञान के पक्षपाती कुछ द्वेषी विशधर यह कहते हैं कि चित्राद्वैतवादिता के कारण भाष्य (अलंकारभाष्य)कार के मत में बुद्ध, बोधिसत्त्वादि का प्रतिक्षेप के कारण परोपदेश कैसे संभव है ? तो उनके विषय में यह मन्त्रपाठ है –

जो युक्तायुक्त विमर्श से शून्य, यथेष्टवाक्, धर्माधर्मनिराशंस (=धर्माधर्म की आशंका से रहित) और सर्वाशी(=सर्वभक्षी, सर्वग्राही) है, वह सुखी है।

यह चित्राद्वैतवाद युवराज प्रभृति द्वारा साकारवादितया आक्षिप्त एवं व्याख्यात है। वार्तिककार(धर्मकीर्ति) ने इसे सिद्ध किया है और उनके भाष्यकार को दूषित किया जा रहा है। यह तो वैसे ही जैसे कि चोर के अपराध से माण्डव्य ऋषि को जेल हो जाय।[140] अथवा,

(सूर्य के) सम्मुख स्थित अन्धा (मनुष्य) सूर्य को तिरस्कृत करता है, आँख वाला नहीं। सचक्षु पुरुष तो सूर्य के प्रकाश से मार्ग, अमार्ग को देखता है।

ऐसे (उपरोक्तानुसार) कहने वाले ने न तत्त्व, न संवृति, न स्वपक्ष और न ही परपक्ष की आलोचना की है। जैसे कि,

'मैं योगाचारवादी हूँ' इस अभिमान से स्वसंवेदन के पद में आरूढ भी अर्थात् स्वसंवेदन को मानते हुए भी अन्य सत्ता अर्थात् विज्ञान से भिन्न आकार को मानते हैं। इससे ज्यादा धिक्कार और क्या हो सकता है ? स्वसंवेदन मान लेने से ही संशय भी दुर्लभ है। यदि संशय से आपके किसी प्रयोजन की सिद्धि होती है तो क्या निश्चय से प्रयोजनसिद्धि नहीं होगी ? सब झंझट छोडकर यह समझ लीजिए कि 'स्वसंवेदन मानने पर तो संशय भी कैसे हो सकता है ?'

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रासंगिक माध्यमिक मत का खण्डन– इस (=वादी) का 'निराकार है' यह मानना ही कोई पुरुषार्थ नहीं है, जिससे कि इसके लिए परवेदन लाया जाय; अन्यथा स्थिति की हानि का प्रसंग होगा। अपि च, यहाँ (=निराकारवाद में) वादी के उपज्ञ उपादान का अभेद भी नहीं है। शेश समान है।

यदि संवृति की अपेक्षा से संशयार्थ (माना जाता है) तो उस(=संवृति–अपेक्षा) से निश्चय ही क्यों नहीं माना जाता ? चित्राद्वयवाद में यदि अनुमान भी असंभव है, तो तत्त्वतः चित्राद्वय का ही गान किया गया है।

'चित्राद्वैत विचित्र है' यह दिखाया गया है। इस (अद्वैतवाद) में (मान्य) एकोपाधि अन्यत्र वचनादिविज्ञप्ति से अनुमीयमान (होती है वह) अन्यचित्त वाले प्रतिवादी को साकारवाद के विद्वेष से कैसे आकृष्ट कर सकती है। एकोपाधि संवृति में असत् ही है और तुम संवृति में अनुमान खोजते हो।[141] अथवा,

जब तक संवृति है तब तक अनुमानबाध के कारण सत्संवृति है। बाह्य में यह आलसपूर्वक भी अन्यचित्त की सत्ता के विना नहीं जीवित रहती। इसलिए जब तक संसार है तब तक शास्ता अनुमान का विषय है और दूसरी ओर (चित्राद्वैतवाद पक्ष) प्रत्यक्ष के रूप में ख्यात है। स्ववेदन से अन्य किसी और प्रमाण की क्या आवश्यकता है ?

जो स्वयमेव दिखता है वह सुदृष्टतर ही होगा।

यह न्याय है। उस समय (स्वसंवेदनवादी विज्ञानवादी के मत में) परोपदेश की अपेक्षा नहीं है। जब अपेक्षा होगी तो अनुमान का निवारण नहीं होगा। अनुमान का निवारण ही अद्वय का साक्षात्कार है। वह भी हमसे दूर नहीं है। आपका आकाशीभाव (=निराकारता) ही अतिरिक्त है। इस कारण न तो अनुमान और न ही उससे अन्य (प्रमाण) की आवश्यकता है। इसलिए यह विशय गम्भीर ही है। उसके निश्चय न होने पर भी सत्ता अधिमोक्ष में यथाशक्ति परीक्षित आप्तोपदेश द्वारा प्रवर्तमान व्यवहार का परिहार कैसे संभव है ? मध्यमानय में भी यह न्याय है, क्योंकि स्वात्मता और परता दोनो सांवृत हैं। संवृति में पर प्रतिभासित नहीं होता, क्योंकि उस समय भी अनुमानमात्र शरण है। माध्यमिकनय और विज्ञानमात्रवाद में भेद नहीं है, यह तो पहले ही बताया जा चुका है। और भी,

कुछ लोग सकल (जगत) को प्रतिभासोपम, कुछ लोग प्रतिभास ही और कुछ लोग सकल अर्थशक्तिशून्य मानते हैं। इनमें कितना अन्तर है ?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यदि कहें कि यह शून्यतावाद अपूर्व है, तो कहते हैं कि एक युवराज के द्वारा प्रदर्शित किए जाने पर भी (क्या) अवान्तर प्रमाणपुरुष का संवाद भी बचा है, किसी अन्य सहायक की क्या आवश्यकता ? चन्द्रप्रदीप में कहा गया है–

बहुत से लोग स्कन्धशून्यता को बताते हैं वे लोग (स्कन्ध) जिस प्रकार निरात्मक(=निःस्वभाव) है उसे नहीं जानते। वे अज्ञानी लोग जब अन्यों द्वारा समझाए जाते हैं तो क्रोध से अभिभूत होकर परुश वचन बोलते हैं।[144]

इति। इसलिए विचार ही शरण है वह किया ही गया है।

माध्यमिक और विज्ञानवाद का समन्वय–

प्रश्न– तो फिर स्थितिचतुष्टय[145] व्यवस्था कैसे ?

उत्तर– बताते हैं। इन (माध्यमिक और विज्ञानवाद) दोनों में बाह्यवाद की भाँति (सत्यतः) द्रव्यतः भेद नहीं हैं किन्तु विनेयभेद से अभिन्न प्रतिपाद्य वस्तु में ही विधि–निषेध द्वारा व्यवहार किया है। विनेयचरित संक्षेपतः दो प्रकार के हैं– आरोपचरित और अपवादचरित। अपवादचरित आशयवश भगवान की प्रतिभासमात्रपर्यन्तसत्ता उल्लेखिनी विधिमुखेन देशना है उससे विज्ञानवाद की प्रसिद्धि है। आरोपचरित के अनुसार सर्वधर्मशून्यता देशना प्रतिशेधमुखेन है इसे मध्यमास्थिति कहते हैं। सर्वारोपव्यवच्छेद होने पर भी यह जगत चित्रप्रतिभाससमात्र है। इसका अपह्नव नहीं किया जा सकता यह आक्षेप द्वारा सि़द्ध है। विज्ञान में सत्ता का ग्रहण करने वाले उच्छेदचरित (माध्यमिक) की भी सत्ता प्रतिभासमात्र ही है अत एव दोनों विज्ञानवादियों एवं माध्यमिकों की साधर्म्य और वैधर्म्य वाक्य की भॉति एक सिद्धान्त में निष्ठा है। आरोपचरित की प्रायशः संभवापेक्षा से तन्मुख(=प्रतिशेधमुख) देशना है। तथा हि,

प्रकृति से विमल, सर्वारोपप्रपञ्चविवेकी (विज्ञान) के स्फुरित होते हुए यदि कुछ न्यस्त (=आरोपित) है, तो वह दुःसह है। कुछ लोगों नें ऐसा भार निरवधि काल से व्यर्थ ही डाल रखा था। इससे चिरकाल से भाव(=विज्ञान) की आत्मा (=स्वरूप) नीचे से नीचे चली गयी।

अत एव समारोप स्वभाव वालों के लिए विकल्प विशेषण की अपेक्षा न करके 'सब कुछ नहीं है' यह भी ठीक ही है। वह आलसी की तरह दीवाल से गाढतया चस्पा रहेगा। इसलिए माध्यमिक और विज्ञानवादियों के एक वंश के होने से विना जड़ का झगडा है। यथा,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सर्वशक्ति से रहित सत् (=सत्तावान्) होने पर शक्त्यभाव के कारण कार्योत्पत्ति भले ही न हो किन्तु उसकी स्वरूप की तो अवहेलना नहीं की जा सकती।

'सत्' शब्द के प्रयोगाप्रयोग के अभिमान से अतिरिक्त यहाँ पर (विज्ञानवादी और माध्यमिक के मत में) प्रमेय का भी भेद नहीं है।[146] इच्छाचरित शब्द के प्रयोग अथवा अप्रयोग होने पर कुछ भी उपचय–अपचय नहीं होता अत एव कलहवारण भी सुकर है।[147] परन्तु जो लोग प्रतिभासमान का भी अपवाद करते हैं, 'प्रकाश' संज्ञक (भी) चित्राकार (को) अप्रकाश (तया) अतिरिक्त (रूप में) आरोपित करते हैं (तथा) अर्थशक्त्यादि को अपूर्व साध्य (मानते हैं) वे अर्थशक्तिमात्र की कल्पना करने वाले विज्ञानवादियों से दूर चले जाने(=भिन्न होने) के कारण बन्धु नहीं है। उनसे[148] केवल झगड़ा होना है। इसलिए मध्यमा (माध्यमिक नय) और योगाचार दोनों में अद्वैत है। स्थितिचतुष्टयव्यवस्था भी दुरवस्थित नहीं है, सर्वत्र अविरोध होने से समन्तभद्रता में भी अनिर्वृति नहीं है।

(तो फिर) यह जो कहते हैं कि–अन्यथा, यह नित्य, अद्वय ही है। (उनका उत्तर देते हैं कि) यह छेकोक्ति निराकार निरसनपरक है अथवा अन्य माध्यमिक के सापेक्ष है। तत्त्वतः तो,

1. प्रकाश शरीर के कारण असत् नहीं है, 2. अन्यों के कारण सत् नहीं है, 3. एक के कारण द्वितय नहीं है, 4. दो के कारण अद्वितय नहीं है; इस प्रकार जगत यदि चतुःशिखरी से वियुक्त है तो भाष्यकार और माध्यमिक मत में क्या विरोध है।[149]

जिन लोगों के मत में अर्थक्रिया परमार्थतः है उनके (मत में) प्रकाशरूप का भी निषेध नहीं है। उनके मत में (आकार और प्रकाश का) भेद भले ही हो परन्तु स्वभावतः कठिन यह मार्ग आत्मवाद प्रकृत में चित्राद्वैतविज्ञानवाद में तो केवल सहायमात्र है।

इस साकारविज्ञानवाद के विरोध में भाष्यकार को केवल उत्थापित किया जाता है अर्थात् सिद्धान्ततः वे इसके विरोधी नहीं हैं अपितु इस मत को पुष्ट करने के लिए प्रश्नोत्थापन करते हैं; अथवा परप्रसिद्धि से भाष्यकार इस मत के प्रतिवादी मालूम होते हैं। परन्तु उस समय युवराज नीति के प्रसाधक के विषय में वार्तिककार ही नायक हैं यह अभिव्यक्त है। और फिर से (कहते हैं कि)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जो मध्यमा का अवतार करते हुए भी स्ववेदन का उल्लंघन नहीं करते। आकारों को स्वरुचि (स्वप्रकाश) कहते हैं। कार्यकारण गुणों का निराकरण करते हैं। इससे ही नयनिधि की रीति भी सिद्ध है।

जो क्रूर असंख्य विरोधी राक्षसों के मुख से शास्ता के शासन की रक्षा में मूर्त (=साकार) प्रभाव महिमा का समूह है उसकी क्या स्तुति की जाय? अथवा अमन्द मन्दर गिरि को टुकडे कर देने के व्यापार को प्राप्त करके दुर्ग्राह्य अपार मेय (आकार) समुद्र धन्यों के परमार्थ सम्पत्ति में किसको आनन्द प्रदान करेगा? अर्थात् सबको आनन्द प्रदान करेगा।

सागर में पोत से स्थिति प्राप्त की जा सकती है अर्थात् उसे पार किया जा सकता है। इस उक्ति के अनुकरण से चञ्चलतावश शिशु ने भी जिस समुद्र का नाम भी सुनकर भय लगता है उसको पार करने का प्रयास किया। यदि वह शिशु सकुशल उस पार पहुँच जाता है तो निश्चित ही आकाश को भी अपनी लहरों से हिला देने वाले सुधासिन्धु का ही गुण है।

साक्षात् कुमारनाथ के द्वारा महिमामण्डित मञ्जूश्री शास्ता के होते हुए भी बालक्रीड़ा के समान (इस ग्रन्थ से) जो भी श्रेय (पुण्य) प्राप्त हो उससे यह जन निर्बाध मैत्रीमय ज्ञानश्री के शिष्यत्व[150] द्वारा प्राप्त परमानन्दैक कन्द का अंकुर हो जाय।

आराजी नं. 315/1, गंगा प्रदूषण रोड,
भगवान्पुर, लंका, वाराणसी (उ.प्र.) 221005

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *दीघनिकाय भाग–01 पृ.–87–88 ।*
2. *अभिधर्मकोष–01/01*
3. *एतद्धि तथागतानां भूतार्थिकं शरीरम्। तत्कस्य हेतोः? उक्तं ह्येतद् भगवता धर्मकाया बुद्धा भगवन्तः। अष्टसा. पृ. 94। डॉ. राजेन्द्रलाल मिश्र द्वारा विब्लिओथिका इंडिका में प्रकाशित।*
4. *धर्मतो बुद्धा दृष्टव्या धर्मकाया हि नायकाः। वज्रच्छेदिका, पृ. 43।*
5. *सर्वप्रपञ्चव्यतिरिक्तो भगवतः स्वाभाविको धर्मकायः स एव चाधिगमस्वभावो धर्मः। बोधिचर्यावतारपञ्जिका पृ.–03।*
6. *एतदेव च प्रज्ञापारमिताशून्यतातथताभूतकोटिधर्मधात्वादिषब्देन संवृतिमुपादाया–भिधीयते। तत्रैव पृ.–38।*
7. *माध्यमिकका. – 22 /15–16*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पाद टिप्पणी –

1. *नीतार्थ का अर्थ है– वाच्यार्थ। शब्द के संकेतित अर्थ को ही अभिधेय एवं वाच्य कहा जाता है। बौद्धदर्शन में प्रायः इसे नीतार्थ कहा जाता है। नेयार्थ का अर्थ है–लक्ष्यार्थ/लाक्षणिकार्थ अथवा आभिप्रायिक। बौद्धदर्शन में इसे नेयार्थ कहा जाता है। देखें– 'बौद्धदर्शनप्रस्थान' पृ.–06 से 08 66 से 68; 487; 496; 497 एवं 532। लेखक–प्रो. रामशंकर त्रिपाठी। केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान सारनाथ, वाराणसी –1997। तथा देखें–'मध्यमकशास्त्र' में 'चन्द्रकीर्ति' कृत 'प्रसन्नपदा' व्याख्या का.–01/03 : पृ0–16 से 28। बौद्धभारती प्रकाशन; वाराणसी–1989; द्वितीय संस्करण।*
2. *आचार्य बुद्धपालित एवं चन्द्रकीर्ति आदि प्रासंगिक माध्यमिक विज्ञानवाद को नेयार्थ/आभिप्रायिक देशना मानते हैं। उनके मत में शून्यता या धर्मों की निःस्वभावता नीतार्थ देशना है। देखें –बौद्धदर्शनप्रस्थान; पृ0–07 एवं 08।*
3. *देखें–'बौद्धधर्मदर्शन'–पृ.–412 एवं 413। आचार्य नरेन्द्रदेव; मोतीलाल बनारसीदास पब्लिसर्स, प्राईवेट लिमिटेड, पटना। सन्–1956।*
4. *देखें–'प्रमाणवार्तिक'; 1/1 ।*
5. *'मध्यान्तविभागषास्त्र'–03/04, स्थिरमति टीका –''आत्मा रूपादयश्च धर्माः परमार्थतः सन्तीत्यभिप्रेत्य समारोपदर्शनम्। व्यवहारतोऽपि न सन्तीत्यत्यपवाद–दर्शनम्। पृ.– 32; बौद्धभारती प्रकाशन–1994। तथा 'वेदान्तसारः' पृ0–86 एवं 206; हिन्दीव्याख्याकार–आचार्य बदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी।*
6. *देखें– 'साकारसंग्रहसूत्र'–03/50; हिन्दीव्याख्याकार–डॉ. वृजकिशोर त्रिपाठी।*
7. *देखें– 'साकारसंग्रहसूत्र'–03/38; हिन्दीव्याख्याकार–डॉ. वृजकिशोर त्रिपाठी ।*
8. *आर्य मैत्रेयनाथ।*
9. *मध्यान्तविभागशास्त्रम् 01/02। द्वारिकादास शास्त्री द्वारा संपादित म.वि. में यह का0–01/1 है, क्योंकि उन्होंने प्रथम कारिका को उपोद्घात में अलग कर दिया है।*

विशेष – परिनिष्पन्न, परतन्त्र और परिकल्पित इन तीनों स्वभावों के लिए विभिन्न प्रकार की व्युत्पत्त्यनुसार (देखें, यहीं पर आगे की चौथी पंक्ति तथा 'मध्यान्त विभाग शास्त्र'01/05, पृ0–10,11 आचार्यस्थिरमति की टीका– ''एवं चाभूतपरिकल्प एव हेतुप्रत्ययपारतन्त्र्यात् परतन्त्रः, स एव ग्राह्यग्राहकरूपेण स्वात्मन्यविद्यमानत्वेन प्रख्यानात् परिकल्पितः, स एव च ग्राह्यग्राहकरहिततया परिनिश्पन्नः। एवमभूतपरिकल्पे त्रयः स्वभावाः संगृहीताः''। बौद्धभारती प्रकाशन वाराणसी–1994 । विषेशतः दृष्टव्य– 'भारतीयदर्शन : आलोचन और अनुशीलन लेखक–डॉ. चन्द्रधर शर्मा ; पृ0 117 एवं 118 प्र0 सं0 पुनमुर्द्रण–2013; मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी) विभिन्न अर्थों में 'अभूतपरिकल्प' शब्द का प्रयोग किया गया है। संवृति या व्यवहार को विज्ञानवाद ने परतन्त्र और परिकल्पित में विभाजित किया है। आगे की गयी व्युत्पत्ति के अनुसार 'अभूतं परिकल्प्यतेऽनेन' इस करणव्युत्पत्ति के द्वारा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

परतन्त्रावस्था के निमित्त का ग्रहण किया गया है; जैसे कि, महायान की कारिका की व्याख्या में आगे मायामन्त्रपरिगृहीत भ्रान्तिनिमित्त काष्ठलोष्ठादि का ग्रहण किया गया है। कहते हैं – 'यथा मायामन्त्रपरिगृहीतं भ्रान्तिनिमित्तं काष्ठलोष्ठादिकं तथाऽभूतपरिकल्पः परतन्त्रस्वभावो वेदितव्यः।' 'अभूतं परिकल्प्यतेऽस्मिन्' इस अधिकरण व्युत्पत्ति के द्वारा समस्त व्यवहार के अधिष्ठानभूत विज्ञान जो कि परिनिष्पन्नस्वभाव है का ग्रहण किया गया है–'ग्राह्यग्राहकद्वयं परिकल्प्यतेऽस्मिन्' अर्थात् जिस परिनिश्पन्न स्वभाव विज्ञान में ग्राह्यग्राहकद्वय की परिकल्पना की जाय। 'परिकल्प्यतेऽसौ परिकल्पः, अभूतष्चासौ परिकल्पष्चेति' इस कर्मव्युत्पत्ति के अनुसार परिकल्पित का ग्रहण किया है। परिकल्पित के अन्तर्गत समस्त आरोपित पदार्थों का ग्रहण किया जाता है। ये नितान्त असत् और परिकल्पित हैं। भ्रान्तिमात्र शरीर होने के कारण इन पदार्थों की भ्रम में प्रतीति होती है। अभूत और परिकल्पित होने के अर्थ में परिकल्पित को भी अभूतपरिकल्प कहा गया है। उक्त तीनों ही व्युत्पत्तियों में 'परिकल्प' शब्द में 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायां घः प्रायेण' (पा.सू.– 3/3/19) से 'घ' प्रत्यय हुआ है।

उक्त हेतु देखें महायानसूत्रालंकार धर्मपर्येष्ट्यधिकार का0 38 से 41। पृ0 64 से 65।

10. मध्यान्तविभाग, 01/09, अथवा 08। वहॉं पर आचार्य स्थिरमति ने कहा है–'कामरूप्यारूप्यधातुभेदेन त्रिधातुकाष्चित्तचैत्ता अभूतपरिकल्पः। ये सत्त्वा नारकाद्याः विंशतिप्रकारास्ते, ये सप्तदशप्रकांरा ब्रह्मकायिकाद्यास्ते रूपधातुः, ये आकाशानन्त्यायतनाद्याष्चतुः प्रकारास्ते आरूप्यधातुः।

अन्ये तु–अप्रहीणकामरागा अविधूतरूपसंज्ञाः कामावचराः कामधातुः, प्रहीणकामरागा अविधूतरूपसंज्ञा रूपावचरा रूपधातुः, प्रहीणकामरागा विधूतरूपसंज्ञाष्चारूप्यावचराः आरूप्यधातुः।

अपरे तु– नित्यं विक्षिप्ताश्चैतसिकदुःखप्रकाराः कामधातुः, समाहिता विगतचैतसिकदुःख प्रकारा रूपधातुः, समाहिता प्रहीणसुखदुःखप्रकारा आरूप्यधातुः।

11. यहाँ पर पूर्वोक्त टिप्पणी के अनुसार करण एवं अधिकरण व्युत्पत्तियॉं प्रदर्शित की गयीं हैं।

12. चूँकि प्रत्यक्ष, कल्पनापोढ़ और क्षणिक, स्वलक्षण का ग्रहण करता है उसके द्वारा किसी में किसी की कल्पना नहीं की जा सकती अत एव पृष्ठजविकल्प के द्वारा कल्पना बतायी गयी है।

13. देखें–महायानसूत्रालंकार, धर्मपर्येष्ट्यधिकार 11/15; व्याख्यासहित पृ0–59 एवं 60 । प्रकाशक–मिथिला इन्स्टीट्यूट, दरभंगा –1970।

14. देखें –'मध्यान्तविभागशास्त्र'–01/05; आचार्यस्थिरमति की टीका के सहित। तथा 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' पृ.–334 से 398। सम्पादक एवं हिन्दी व्याख्याकार, डॉ. रामशंकर त्रिपाठी ; सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी–1992।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

15. देखें –'मध्यान्तविभागशास्त्र'–01/05; आचार्यस्थिरमति की टीका के सहित। तथा 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' पृ0–330। सम्पादक एवं हिन्दी व्याख्याकार, डॉ0 रामशंकर त्रिपाठी ; सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी –1992।
16. देखें–महायानसूत्रालंकार, धर्मपर्येष्ट्यधिकार 11/16; व्याख्यासहित पृ0–60। प्रकाशक–मिथिला इन्स्टीट्यूट, दरभंगा –1970।
17. यहाँ पर अभूतपरिकल्प परतन्त्रस्वभाव के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।
18. देखें–महायानसूत्रालंकार, धर्मपर्येश्ट्यधिकार 11/17; व्याख्यासहित पृ0–60। प्रकाशक–मिथिला इन्स्टीट्यूट, दरभंगा –1970।
19. अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ ज्ञानं लोकोत्तरं च तत् ।
आश्रयस्य परावृत्तिर्द्विधा दौष्ठंल्यहानितः ।।
स एवानाश्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः ।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः ।।
विशेषतः दृष्टव्य, 'त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' पृ.–382 से 403। आचार्यस्थिरमति की टीका के सहित। सम्पादक एवं हिन्दी व्याख्याकार, डॉ. रामशंकर त्रिपाठी; सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी –1992।
20. यहाँ पर 'अभूतपरिकल्प' परिनिष्पन्नस्वभाव के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। परिनिष्पन्न के भावार्थ के लिए देखें पूर्व टिप्पणी सं.–08।
21. देखें–महायानसूत्रालंकार, धर्मपर्येष्ट्यधिकार 11/18; व्याख्यासहित पृ0–60। प्रकाशक–मिथिला इन्स्टीट्यूट, दरभंगा –1970।
22. तत्रैव–11/19।
23. तत्रैव–11/20।
'अविशेष' के लिए विषेशतः देखें –'भारतीयदर्शन : आलोचन और अनुशीलन लेखक–डॉ. चन्द्रधर शर्मा; पृ. 114 एवं 115 प्र. सं. पुनमुर्द्रण–2013; एवं 'बौद्धदर्शनप्रस्थान' पृ.– 123। लेखक–प्रो. रामशंकर त्रिपाठी। केन्द्रीय उच्च शिक्षा संस्थान सारनाथ, वाराणसी –1997।
24. तत्रैव–11/21।
25. तत्रैव–11/22।
26. तत्रैव–11/23।
विशेष – यहाँ पर भाव का अर्थ है – विज्ञान और अभाव का अर्थ द्वयरहितता समझना चाहिए। हीनयान से गमन का प्रतिषेध इसलिए बताया गया है कि इसमें रूपादि मानना पड़ता है।
27. अभिसमयालंकार स्फुटार्थवृत्तिसहित; –05/20 पृ.–71। संस्कृतरूपान्तरकार एवं सम्पादक, डॉ. रामशंकर त्रिपाठी; सम्पूर्णानद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी; सन्–1997।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

28. अभिसमयालंकार स्फुटार्थवृत्तिसहित;–05/20 पृ.–71। संस्कृतरूपान्तरकार एवं सम्पादक, डॉ. रामशंकर त्रिपाठी; सम्पूर्णानद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी; सन्–1997।
29. देखें –मध्यान्तविभाग–01/02; वहाँ पर वसुबन्धुभाष्य में लिखा है–तत्राभूतपरिकल्पो ग्राह्यग्राहकविकल्पः। द्वयं ग्राह्यं ग्राहकं च। शून्यता तस्याभूतपरिकल्पस्य ग्राह्यग्राहकभावेन रहिता ...... एवं यद्यत्र नास्ति तत्तेन शून्यमिति यथाभूतं समनुपष्यति। यत्पुनरत्रावशिष्टं भवति तत्सदिहास्तीति यथाभूतं प्रजानाति ...... इत्यादि। बौद्धभारती प्रकाशन वाराणसी –1994।
30. इसका तात्पर्य यह है कि योगाचार दर्शन और शून्यतानय में कोई भेद नहीं है।
31. देखें–उत्तरतन्त्र, रत्नगोत्रविभागः, प्रथमः परिच्छेदः, पृ.–75। श्री सतगुरु पब्लिकेशन, इण्डियन बुक सेण्टर, दिल्ली; प्रथम संस्करण–1991।
32. तत्रैव–01/154 ; पृ0–76।
33. यथा कि पूर्व में बताया गया है कि योगाचार–अभिमत यह शून्यतानय समारोप और अपवाद के (परि) अन्त (=अभाव) के लिए बताया गया है इसलिए इसे "अपर्यन्तशून्यता" कहते कहा गया है। मूलग्रन्थ में यही पाठ उपलब्ध है।
34. देखें– तत्रैव; उत्तरतन्त्र; पृ.–76।
35. देखें–मध्यान्तविभागशास्त्रम् 01/03 । पूर्वोक्त प्रकाशन।
36. देखें–साकारसंग्रहसूत्र 03/29।
37. तत्रैव–3/31 एवं 32।
38. पूर्वोक्त श्लाघा। साकारसंग्रहसूत्र 3/30 एवं 33 भी देखें।
39. साकारसंग्रहसूत्र; 03/25।
40. तत्रैव 3/22।
41. तत्रैव 3/22।
42. यहाँ के व्याख्यान से यह प्रतीत होता है कि ज्ञानश्री स्वसंवेदनसिद्ध 'चित्राद्वैतविज्ञान' को ही 'धर्मकाय' मान रहे हैं।
43. यहाँ तक के व्याख्यान से यह सिद्ध करना चाहते हैं कि विज्ञानव्यतिरिक्त पञ्चस्कन्धादि बाह्य की सांवृतिक सत्ता भी नहीं है। सांवृतिक सत्ता भी केवल ज्ञान की ही है। विज्ञान ही अनादिवासनावसात् भ्रम से बाह्य–ज्ञान के रूप में प्रतिभासित होता है।
44. इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वचित्त क्षण और उत्तर चित्तक्षण के मध्य प्रतिसन्धि (=योग) नही होती; जिसका कारण है – क्लेशाभाव। यही है–चित्तनिरोध। उत्तर में कहते हैं कि क्लेशाभाव के कारण संसार (संक्लेशव्यवदानप्रकरणम् द्वि. प्र. पंक्ति द्वि.) में पतन भले ही न हो परन्तु चित्तप्रबन्धव्यापार का निरोध नहीं हो सकता। इस प्रकार चित्तनिरोध मानना उचित नहीं है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

45. देखें, संक्लेशव्यवदानप्रकरणम् द्वि. प. पंक्ति द्वि.–"उपप्लुतो ह्याकारकलापोऽत–स्मिंस्तद्ग्रहाद् भ्रान्तिरेव संसारः" (अतद् में तद् का ज्ञान होने से भ्रान्तिरूप जो उपप्लुत=आरोपित आकारसमूह है वही संसार है।)

46. यहाँ पर विज्ञान को ही 'चैतन्य' शब्द से कहा गया है क्योंकि विज्ञानवादी बौद्ध आचार्य विज्ञान को चैतन्यरूप मानते हैं।

47. क्योंकि 'सब कुछ भ्रम ही है' इस विचार के भ्रम हो जाने पर सब कुछ अभ्रम (=सच) हो जायगा।

48. अर्थात् किसी एक व्यक्ति को भ्रम तो अन्य को अभ्रम होगा।

49. देखें, प्रमाणवा.–01/210
प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्यागन्तवो मलाः।
चित्त का स्वभाव प्रभास्वर (प्रकाशमान या शुद्ध) है मल तो आकस्मिक हैं।
तथा, देखें तत्त्वसंग्रह–अतीन्द्रियार्थपरीक्षा, 26/3433 एवं 3434। यथा–
यावद् यावद्गुणोघोऽस्यामाभिमुख्येन वर्त्तते।
प्रभास्वरतरा तावत् सुतरामेव वर्त्तते।।
प्रभास्वरमिदं चित्तं तत्त्वदर्षनसात्मकम्।
प्रकृत्यैव स्थितं यस्मात् मलास्त्वागन्तवो मताः।।
तथा, देखें–रत्नगोत्रविभाग–1/64
चित्तस्य याऽसौ प्रकृतिः प्रभास्वरा
न जातु सा द्यौरिव याति विक्रियाम्।
आगन्तुकैः रागमलादिभिस्त्वसा
– वुपैति संक्लेषमभूतकल्पजैः।।

50. प्रतीत होता है कि ज्ञानश्री ने स्वयं ही 'सर्वज्ञसिद्धि' नामक निबन्ध भी लिखा था जैसा कि उन्होंने अपने अन्य निबन्धों में इसका उल्लेख किया है –"तथा चैवंविधमुद्भेदि–तमस्माभिः सर्वज्ञसिद्धाविति" योगिनिर्णयप्रकरणम् पृ.–343।
तथा, देखें– रत्नकीर्तिनिबन्धावली, सर्वज्ञसिद्धि पृ.–3
'दोषावस्थायां चित्तस्य संस्कारापेक्षत्वात्। यो हि यत्स्वभावस्तस्मिन् स्वभावे व्यवस्थितो न संस्कारमपेक्षते। यथा दोशमपनीय तपनीयमक्षयदशायामवस्थितम्। अपेक्षते च चित्तमविद्यादशायां संस्कारमिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः। प्रतिशेध्यस्य तत्स्वभावत्वस्य यद्व्यापकं संस्कारनिरपेक्षत्वं तद्विरुद्धैतदपेक्षितमिति चित्तस्य दोशात्मकत्वक्षतिः।'

51. षष्ठी शेषे' (पा. सू.–02/03/50) सूत्र के द्वारा प्रयुक्त षष्ठी सम्बन्ध का बोध कराती है। सम्बन्ध दो भिन्न सम्बन्धियों में होता है। यदि संभोगकाय जो बुद्ध वह ही धर्मकाय है तो बुद्ध का धर्मकाय (=बुद्धस्य धर्मकायः) यहाँ पर षष्ठी अभिन्न में नहीं हो सकेगी, अथवा द्वितीय व्याख्या के अनुसार बुद्धरूप धर्मकाय जब एक ही हो गये तो भेद में होने वाले षष्ठ्यर्थ का उपपादन नहीं हो सकेगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

52. इसका तात्पर्य यह है कि यदि धर्मकायरूप 'बुद्ध' संभोगकाय का धर्म होगा तो प्रज्ञप्तिसत् होगा क्योंकि सभी धर्म प्रज्ञप्तिसत् होते हैं। यदि उससे भी भिन्न द्रव्यसत् है तो फिर उससे भिन्न मानने की परम्परा का अनवसान होने से अनवस्थिति होगी।
53. देखें, उत्तरतन्त्र 01/47
अशुद्धोऽशुद्धशुद्धोऽथ सुविशुद्धो यथाक्रमम्।
सत्त्वधातुरिति प्रोक्तो बोधिसत्त्वस्तथागतः।
स एव पुनः शारिपुत्र धर्मकायः सर्वक्लेशकोशपरिमुक्तः ..... सर्वोपक्लेषमलापगतः ..... सम्यक्संबुद्धइत्युच्यते। तथा 'तस्माच्छारिपुंत्र नान्यो धर्मधातुः नान्यः सत्त्वधातुर्नान्यो धर्मकायः। सत्त्वधातुरेव धर्मकायः। धर्मकाय एव सत्त्वधातुः' इत्यादि। तत्रैव टीका–01–50।
54. उत्तरतन्त्र 01/145
55. उत्तरतन्त्र 01/15
56. मध्यान्तविभाग, 01/14
57. पूर्वपृष्ठ (492) की 22वीं पंक्ति में आए प्रश्न से मिलान करें।
58. मध्यान्तविभाग–01/02
59. देंखें–न्यायविन्दु–02/28; 'अनेन च दृष्यानुपलब्धिः प्रत्यक्षघटनिवृत्तिस्वभावोक्ता' – धर्मोत्तरटीका। वहीं पर प्रदीप भी–प्रसज्यप्रतिशेधलक्षणनिवृत्तिनिष्चयहेतुत्वात् प्रत्यक्षघटनिवृत्तिः प्रत्यक्षघटानुपलब्धिर्नञः पयुर्दासवृत्या तदेकज्ञानसंसर्गि वस्तु तज्ज्ञानं च द्वयं स्वभावो रूपं यस्या दृष्यानुपलब्धेः तथोक्ता व्याख्यातेति शेषः।
दृष्यानुपलब्धि, प्रसज्यवृत्ति से प्रत्यक्ष घट की निवृत्तिस्वभाव तथा पर्युदासवृत्ति से तदेकज्ञानसंसर्गि (भूतलादि) स्वभाव वाली है। अर्थात्– एकज्ञानसंसर्गि वस्तु और उसका ज्ञांन जो कि प्रत्यक्ष घट के निवृत्तिस्वरूप है–यही दृश्यानुपलब्धि है।
60. इसका तात्पर्य यह है कि जैनमत में अनेकान्तवाद माना जाता है किसी पक्ष का एकान्ततः आवश्यकरूप से अभाव न मानना ही अनेकान्तवाद है। वस्तु के एक अंश को उसका सम्पूर्ण स्वरूप मान लेना एकान्तवाद है जो असत्य और भ्रामक है। जैनमत अनन्त गुण और पर्याय स्वीकार करता है अत एव स्वयं को अनेकान्तवादी कहता है। लोक में अनन्त वस्तुएं हैं और इनमें से प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म हैं इस तत्त्वमीमांसीय धर्म का नाम अनेकान्तवाद है। इस अनेकान्तवाद के दोश का वारण (अज्ञात) टीकाकार ने प्रसज्यप्रतिषेधपक्ष में भावमात्रापेक्षा से (अर्थात् भावमात्र स्वीकार कर) तथा पर्युदासपक्ष में नित्यादिरूप का अवस्तु (वस्त्वाभाव) रूप मानकर किया है।
61. दिगम्बर मत के आपतन से बचने के लिए अथवा धर्मकाय के एकान्तिक भाव, अभावादि धर्मों का निषेध करने के लिए यह बताया गया है।
62. इसका तात्पर्य यह है कि 'धर्मकाय' अभावरूप नहीं है किन्तु भावरूप विज्ञान है। वह भावरूपता विज्ञानसम्मत यथोक्तानुसार द्वयाभावरूप है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

63. यदि धर्मकाय शून्यतारूप हो तो सर्वरहितताास्वभाव (=अभावरूप) शून्यता में समलता, अमलता और सर्वत्रगादि धर्म कैसे सम्भव होंगे ?

संक्लिष्टा च विशुद्धा च समला निर्मला च सा।
अब्धातुकनकाऽऽकाशशुद्धिवच्छुद्धिरिश्यते ।।(म. वि.–01/17)

64. स्वलक्षण में षब्द की वाच्यता सम्भव नहीं है अतः बौद्धों ने यह स्वीकार किया है कि–

अपोहः शब्दलिंगाभ्यां प्रकाष्यत इति स्थितिः।
साध्यते सर्वधर्माणामवाच्यत्वप्रसिद्धये ।। (ज्ञानश्रीमित्रनि., अपोहप्रकरणम्)

'अनुभव और शब्द से अपोह का ही प्रकाशन होता है किन्तु अपोहवाद निवृत्तिरूप ही है अर्थात् अभावात्मकरूप में ही गृहीत होता है जबकि 'गामानय' (गाय ले आओ) आदि वाक्यों से विधिमुखतया ही गवानयन बुद्धि होती है न कि निषेधरूपतया'; इस समस्या के समाधान के लिए बौद्धों ने दो प्रकार के अपोह (तत्त्वसंग्रह, सम्बन्धप., का –1003) –विधिरूप तथा निषेधरूप को स्वीकार किया है। इन्हें ही पर्युदासलक्षण तथा प्रसज्यप्रतिषेधलक्षण अपोह कहा गया है। आचार्य दिग्नाग ने निषेधात्मक तो शान्तरक्षित ने विध्यात्मक अपोह स्वीकार किया है; किन्तु ज्ञानश्री एवं उनके षिश्य रत्नकीर्ति ने यह प्रतिपादित किया है कि शब्दार्थ न तो पूर्णरूप से विधिरूप और न ही निषेधरूप अपितु निषेधविशिष्ट विधि ही शब्दार्थ है। जगत में विधिरूपता को पकडकर व्यवहार चलता है। यद्यपि शब्द की निशेधरूपता शब्द से उक्त नहीं होती फिर भी यह निश्चित ही ज्ञान में प्रतिभासित होती हैं। अन्यथा षब्द से अर्थप्रतिपत्तिकाल में तदन्यपरिहारपूर्वक प्रवृत्ति नहीं होती। जैसा कि ज्ञानश्री ने कहा है–

शब्दैस्तावन्मुख्यमाख्यायतेऽर्थ–
स्तत्रापोहस्तद्गुणत्वेन गम्यः।
अर्थष्चैकोऽध्यासते भासतेऽन्यः
स्थाप्यते वाच्यस्तत्त्वतो नैव कष्चित्।। (ज्ञान., अ.,पृ–203)

गौः गौः इत्यादि अनुगत व्यवहारों में अतद्व्यावृत्ति(अन्यापोह) के वाचक शब्द न होने पर भी व्यक्तिरूप वस्तु में ही अतद्व्यावृत्तिरूपेण अनुगति होने के कारण वह अनुगति वस्तुविशयिणी प्रतीत होती है। प्रमाणवार्तिककार ने भी कहा है–

वस्तूनां विद्यते तस्मात् तन्निष्ठा वस्तुनि श्रुतिः। बाह्यशक्तिव्यवच्छेदनिष्ठाभावेऽपि तच्छ्रुतिः ।। प्र0 वा0; प्र0 प0 का0–163

विशेषतः देखें–1–ज्ञानश्री. अपोहप्र., काशीप्रसाद जायसवाल, इन्स्टीट्यूट पटना–1959; 2–रत्नकीर्ति., अपोहसिद्धि; 3–तत्त्वसंग्रह–शब्दार्थपरीक्षा– बौद्धभा.–1997; 4–सारस्वती सुशमा वर्श 51, अंक 1–4 ''शब्दार्थपरीक्षा'' लेख.– डॉ. वृजकिशोर त्रिपाठी, सं. सं. वि. वि. वाराण्सी

65. मध्यान्तविभागशास्त्र–01/16; वसुबन्धुभाष्य।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

66. म0 वि0–01/19–20 स्थिरमतिटीका –"शुभं संस्कृतम्, असंस्कृतं च। सत्त्वार्थं न मया संसारः परित्याज्यः। अक्षयं शुभं निरुपधिषेशनिर्वाणम्। गोत्रं हि प्रकृतिः। सानुव्यञ्जनानां महापुरुषलक्षणानां प्राप्तये। बलवैशारद्यादीनां सर्वेशां बुद्धधर्माणां प्राप्तये।
67. इसका तात्पर्य यह है कि किसी मनुष्य की सर्वार्थसिद्धि में यौवनावस्था के पराक्रम और फुर्तीलेपन की अवस्था का आधिपत्य बताने के लिए प्रौढ/वृद्धावस्था में कहा जाता है कि– 'विक्रमोऽस्य सर्वार्थसाधकः क्षणिकता चे'ति।
68. देखें–म. सू.–06/04; तथा वहाँ का भाष्य–"यदा च लोको भावानां प्रतीत्यसमुत्पादं प्रत्यक्षं पष्यति तं तं प्रत्ययं प्रतीत्य ते ते भावा भवन्तीति। तत्कथमेतां दृश्टिं श्रयतेऽन्यकारितम् दर्षनादिकं न प्रतीत्यसमुत्पन्नमिति। कतमोऽयमीदृषस्तमः प्रकारो लोकस्य यद्विद्यमानं प्रतीत्यसमुत्पादमविपश्यन्नविद्यमानमात्मानं निरीक्षते। शक्यं हि नाम तमसा विद्यमानमद्रष्टुं स्यान्न त्वविद्यमानं द्रष्टुमिति।"
विशेष– ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली पृ.–497 प्र. पं. 'सत्वेऽपि च श्रद्धेयस्याकार–भागस्तावत् सत्य इति दुर्वारः' से यह प्रतीत होता है कि म. सू. के इस ष्लोक के माध्यम से ज्ञानश्री यह बताना चाहते हैं कि लोग सत् (संभोगकाय से तादात्म्यापन्न) धर्मकाय को नहीं जानते असत् (धर्मकाय से भिन्न) संभोगकाय को जानते हैं।
69. णेरणौ यत्कर्म णौ चेत्सः कर्त्ताऽनाध्याने' (पा. सू.–01/03/67) से कर्तृस्थक्रिया की चतुर्थावस्था में णिच्प्रत्यय करके 'नपुंसके भावे क्तः' (पा. सू.–03/03/114) से क्तप्रत्यय करके 'उपपदमतिङ्' (पा. सू.–02/02/19) से समास करके 'अन्यकारितम्' शब्द की सिद्धि होगी। जिसका अर्थ होगा–अन्य की क्रिया को।
70. इसका तात्पर्य यह है कि आकारलेश सत् प्रतीत्यसमुत्पाद को नहीं देखता अपितु असत् अन्यविषय (धर्मकाय) को देखता है।
71. म.सू. बोध्य.–09/66: पृ.–48।
72. वहीं पर भाष्य।
73. उ. त.–01/49।
74. उ. त.–01/50।
75. (कात्यायनवार्तिक–908; पा.सू.–01/03/21)
76. 'गतं प्रकारः' कैयट प्रदीप तत्रैव।
77. पा. सू.–02/03/21
78. उत्तरतन्त्र–01/50।
79. देखें यहीं ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली पृ0 495 पंक्ति–20 ।
80. इसका तात्पर्य यह है कि, धर्मकाय से भिन्न बुद्ध अलीक है। तदभिन्नतया तो सत्य ही है।
81. इसका तात्पर्य यह है कि बुद्धि हो जिसमें (बुद्धिरस्यास्तीति बुद्धः) के अनुसार बुद्धि(=विज्ञान) सम्पन्न या विज्ञान को ही बुद्ध कहते हैं उसके भ्रान्ति की सम्भावना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नहीं है। अब यदि उक्तानुसार प्रत्येक को बुद्ध कहा जायगा तो उसके किसी एक अंश को भ्रान्त या अलीक कहना होगा; अपि च संभोगकाय को अलीक कहेंगे तो उसके परार्थसम्पत्ति का सम्पादन नहीं होगा ।

82. महायानसूत्रालंकार बोध्यधिकार–09/62; पृ0–47। मिथिला इन्स्टीट्यूट दरभंगा – 1970।
83. यहाँ पर महायानसूत्रालंकार पृ.–47 मे पाठ भिन्न है। वहाँ पाठ है–"एवं द्वयार्थसंम्पत्तिर्यथाक्रमं द्वयोः प्रतिश्ठिता सांभोगिके च काये नैर्माणिके च।
84. भाष्य, तत्रैव।
85. अतः सेवा, पूजा करने के लिए संभोगकाय बुद्ध को माना जाना चाहिए; यह तात्पर्य है।
86. प्राचुर्य अर्थ में (पा.सू.–05/02/127) अच्प्रत्यय हुआ है।
87. इसका तात्पर्य यह है कि साकारविज्ञान के अनुसार सभी ज्ञेय (=आकार) विज्ञान के अपने स्व=रूप (हैं); फलस्वरूप विज्ञानव्यतिरिक्त बाह्य नहीं है तो फिर स्व और पर का लोप एवं (विज्ञानव्यतिरिक्त) आकार के ही अभाव के कारण प्रषस्तबुद्धियोग का भी अभाव होगा. क्योंकि आकार रहते भ्रान्तिव्यवस्था और उसके परिहार द्वारा प्रशस्तबुद्धियोग संभव है।
88. यदि संभोगकाय धर्मकाय का ही अवस्थान्तर है तो धर्मकाय से सम्बन्ध(=श्रंसन) का प्रश्न नहीं होता फलस्वरूप संभोगकाय की अश्रंसन नित्यता का अतिक्रम होगा ।
89. उत्तरतन्त्र–02/53
90. आभोग का अर्थ है कुशल–अकुशल कर्म। (देखें–ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली पृ0–493; पं0–16 से 17)। धर्मकाय अनाभोग है। इस अवस्था में कुशल–अकुशल कर्म नहीं होते।
91. उत्तरतन्त्र–04/53–54
92. इसका तात्पर्य यह है कि वेदान्तदर्शन के अनुसार आत्मज्ञान हो जाने पर भी ज्ञानियों का प्रारब्धकर्म अवशेष रहता है जिसके भोग के लिए उन्हें शरीर धारण किए रहना पड़ता है। बौद्धदर्शन में विमल विज्ञानरूप धर्मकाय अनाभोग है।
93. जिस प्रकार मद्गु (=जलपक्षी) जल में बार–गार डूबता उतराता है उसी प्रकार ऋषि बार–बार धर्मकाय से संभोगकाय और संभोगकाय से धर्मकाय को यदि प्राप्त होगा तो उसे स्वास्थ्य लाभ कब होगा ?
94. जिस प्रकार किसी स्त्री की तोंद निकली हो और वह गर्भवती भी हो तो प्रसव के उपरान्त भी उसकी उदरवृद्धि कम नहीं होगी फलस्वरूप यह पता नहीं चलेगा कि वह कब गर्भवती है और कब नहीं। उसी प्रकार ऋषि का उक्तानुसार यह पता नहीं चल पायगा कि वह कब विशुद्ध विमल धर्मकाय को और कब निर्माण द्वारा परार्थसम्पादनार्थ संभोगकाय को धारण करता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

95. 'तद्वाच्यत्वे सति तद्वाच्यवृत्तित्वे सति तद्वाच्योपस्थितीय प्रकारताश्रयत्वम् प्रवृत्तिनिमित्तत्वम्' जो वाच्य हो वाच्य में वृत्ति हो और वाच्योपस्थितीयप्रकारता का आश्रय हो उसे प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं अथवा सीधे शब्दों में कहा जाय तो जिस जात्यादि पदार्थों का आश्रय लेकर शब्द प्रयोग होता है उसे प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं; जैसे–'जिन' का प्रवृत्तिनिमित्त है– 'जय' क्रिया एवं 'मुनीन्द्र' का प्रवृत्तिनिमित्त है– वाग्संयम का उत्कर्ष अथवा मनन का उत्कर्ष। इस प्रकार पर्याय होने पर भी दो शब्दों में प्रवृत्तिनिमित्त भेद होने पर भेद होता है। जबकि यहाँ पर कल्पित भेद भी नहीं है।
96. इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त टिप्पणी के अनुसार प्रवृत्तिनिमित्त के भेद होने पर भी तदाश्रय एक ही है अत एव कहा गया है –'धर्म एव बुद्ध'। अब सुगत का धर्मरूप बुद्ध से अविचलन कहना उचित नहीं है। बुद्धत्व से अविचलन भले ही कहा जा सकता है।
97. देखें पूर्वोक्त तादात्म्यनिरूपण ।
98. देखें –ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली, पृ0–498; पं.–17 एवं 18 ।
99. ब्रह्मपद सदृश सामर्थ्यस्थित धर्मकाय, ब्रह्मा के सदृश सामर्थ्यस्थित संभोगकाय, उक्तद्वयशून्य धर्मधातु धर्मकाय और निर्माणकाय।
चार काय के लिए देखें, अभिसमयालंकारवृत्ति स्फुटार्थ सहित; धर्मकायाधिकार अष्टम, पृ.–81 से 91। के. उ. ति. शि. सं., सारनाथ वाराणसी–1997। संस्कृतरूपान्तरकार एवं सम्पादक–प्रो. रामशंकर त्रिपाठी।
100. महायानसूत्रालंकार; बोध्यधिकार, 09/51
101. देखें– ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली पृ0–485; पं0–23 ।
102. यहाँ तक का तात्पर्य यह है कि ज्ञानश्री संभोगकाय से पृथक् धर्मतारूप निराकार धर्मकाय नहीं मानना चाहते।
103. उ0त0–03/01
104. उ0त0–03/02–03
105. देखें– ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली–495 की 9वीं पं0 से आगे।
106. उ.त.–01/151–02
107. तात्पर्य यह है कि परम अर्थ=प्रयोजन जो संभोगकाय जिससे अर्थात् जिससे तादात्म्यापन्न हो ऐसे परमार्थरूप धर्मकाय के अर्थ में शून्यता का प्रयोग किया गया है।
108. निष्कर्षतः न तो निराकार विज्ञानवाद और न ही धर्मतारूप निराकार धर्मकाय मानना चाहिए।
109. जैसे किसी अपराधी को अपराध से रोकने अथवा अपराध साबित करके दण्ड निर्धारित करने के लिए बन्धक बनाया जाय किन्तु बन्धक बनाए जाने के पश्चात् उसकी मृत्यु हो जाय तो यह एक नई परेशानी उपस्थित हो गयी कि उसकी मृत्यु क्यों/कैसे हुई ? उसी प्रकार साकारविज्ञानवादी के मत में विज्ञानव्यतिरिक्त आकार का खण्डन करने पर उसके अविद्यावशात् असत्ख्याति दोष की आपत्ति होगी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

110. प्रज्ञापारमिता पिण्डार्थ–38।
111. चार प्रकार के व्यवदान हैं–न सत्, न असत्, न शून्य, न अशून्य।
112. प्रज्ञापारमिता पिण्डार्थ–27–9।
113. प्रज्ञापारमिता पिण्डार्थ–01।
114. इसका तात्पर्य यह है कि प्रज्ञापारमिता के अनुसार भी साकारविज्ञान ही उद्द्योतित हो रहा है। प्रज्ञापारमिता में निराकारविज्ञान की सत्ता नहीं बतायी गयी। प्रज्ञापारमिता ज्ञान अद्वय है, वही साध्य है और वही शून्यता भी। फलस्वरूप ग्राह्यग्राहकशून्य अद्वैतविज्ञान की साध्यता बतायी गयी है। देखें– साकारसंग्रहसूत्र तृतीयपरिच्छेद का.–79 से 83।
115. यद्यपि चन्द्रकीर्ति प्रभृति कुछ प्रासंगिक माध्यमिक यह मानते हैं कि आचार्य वसुबन्धु स्वसंवेदन को स्वीकार नहीं करते हैं किन्तु ज्ञानश्री यह कहना चाहते हैं कि आचार्य ने भले ही दोनों प्रमाण स्वीकार न किए हों फिर भी उन्होंने कहीं पर साक्षात् रूप से स्वसंवेदन का खण्डन तो नहीं किया इसलिए कहना चाहिए कि वसुबन्धु अबाध्य स्वसंवेदन को स्वीकार करते हैं।
116. जिस प्रकार आरूप्यधातु त्रिधातु का एकदेश होने पर भी भिन्न वेदन है। वह रूप रहित स्थान से संबद्ध न होने से भिन्न वेदन है अतः काम एवं रूप धातु के स्वभाव वाला नहीं है। उसी प्रकार संभोगकाय यदि धर्मकाय से भिन्न स्वभाव होता तो वह उसका धर्म कैसे होता?
117. देखें– म. सू. बोध्य.–09/67 से 76 तक।
आदर्शज्ञानमचलं त्रयज्ञानं तदाश्रितम्।
समताप्रत्यवेक्षायां कृत्यानुष्ठान एव च।।
चतुर्विधं बुद्धानां ज्ञानमादर्शज्ञानं, समताज्ञानं, प्रत्यवेक्षाज्ञानं, कृत्यानुष्ठानज्ञानञ्च .... इत्यादि।
118. म. सू. 09/77 एवं उसका भाश्य ।
119. म. सू.–11/33 पृ0,63 पं.–22 एवं 23।
120. त्रिकायव्यवस्था एवं स्वार्थसम्पत्ति का विलोप प्रसक्त होगा।
121. तात्पर्य यह है कि स्वार्थसम्पत्ति संभोग का अथवा द्वय शब्द का ग्राह्य–ग्राहक अर्थ का उन्नयन कर लेना चाहिए।
122. म0 सू.–06/07; तत्त्वाधिकार।
123. वहीं पर भाष्य, पृ.–25।
124. 'बौद्धधर्मदर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव; पृ.–23।
125. बौद्धधर्मदर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव; पृ0–408। एवं 'बौद्धदर्शनप्रस्थान' पृ.–175 एवं 176। प्रो. रामशंकर त्रिपाठी; के. उ. ति. षि. सं., सारनाथ वाराणसी। सन्–1997।
126. देखें–म. सू.–पृ., 170 एवं 171। तथा 'बौद्धधर्मदर्शन' आचार्य नरेन्द्रदेव पृ., 412 एवं 413।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

127. देखें, म. सू.–169

एकायनपथश्लिष्टाऽनिमित्तैकान्तिकः पथः ।। 20/12

अनिमित्तेऽप्यनाभोगः क्षेत्रस्य च विशोधना।

सप्तम्यां मिश्रोपमिश्रत्वेनैकायनपथस्याष्टमस्य विहारस्य ष्लिश्ट आनिमित्ति–कैकान्तिको मार्गः। अश्टम्यामनिमित्तेऽप्यनाभोगे निरभिसंस्कारनिमित्त– विहारित्वाद् बुद्धक्षेत्रपरिषोधना च । तथा, आभिमुख्याद् द्वयस्येह संसारस्यापि निवृतेः।

उक्ता ह्यभिमुखी भूमिः प्रज्ञापारमिताश्रयाद् ।। 20/36

सा हि प्रज्ञापारमिताश्रयेण निर्वाणसंसारयोरप्रतिश्ठानात् संसारनिर्वाणयोरभिमुखी। एकायनपथश्लेषाद् भूमिर्दूरंगमा मता। 20/37 इत्यादि।

विशेषतः देखें– आचार्य नरेन्द्रदेव कृत 'बौद्धधर्मदर्शन' 412 एवं 413।

128. व्यंग्य कर रहे हैं कि यह सर्प की भाषा है कि आकार को मान रहे हैं और नहीं भी मान रहे। जिस प्रकार सांप की दो जीभ होतीं हैं उसी प्रकार आपके दो वचन हैं अथवा आचार्य असंग आप को घूंसा मार रहे हैं।

129. निराकार विज्ञानवादी के मत में ज्ञान का आकार और उसका बाह्यत्व वासना से भासित होता है ।

130. निराकारविज्ञानवादी ज्ञान में आकार को अलीक मानते हैं वह अनादि वासनावष भासित होता है।

131. यह व्यंग्योक्ति है। अर्थात् यह दुर्व्यवस्था है।

132. जैसे कोई कुम्हडा ऊपर से देखने में अच्छा लगता है किन्तु भीतर से सडा रहता है उसी प्रकार आपका यह निराकार विज्ञानवाद के निमित्त का सिद्धान्त है।

133. यद्यपि सौत्रान्तिक चित्तविप्रयुक्त धर्मों का अस्तित्व नहीं मानते, उनके अनुसार ये प्रज्ञप्तिमात्र हैं, वस्तुसत् नहीं हैं। इसका अभिधर्मकोश (02/35–36) में विस्तारपूर्वक व्याख्यान किया गया है। यहॉ पर साकारविज्ञानवादी ज्ञानश्री ने जिन्हें उद्ग्रह और संज्ञा (स्कन्ध) के रूप में जाना जाता है, जिनका संस्कार(स्कन्ध) के अन्तर्गत ग्रहण नहीं है उन नीलत्व, पीतत्व, दीर्घत्व और ह्रश्वत्वादि का ग्रहण किया है।

134. म0 सू0–09/68; पृ. 48।

135. वहीं भाष्य।

136. म. सू.; 09/69 एवं तद्भाश्य पृ.–48 एवं 49।

137. इस अनुच्छेद का तात्पर्य यह है कि परार्थसम्पादन की इच्छा से महाकरुणा से परिपूर्ण बोधिसत्त्व जब विज्ञप्तिमात्रता का प्रणिधान करते है तो समस्त सत्त्वों की चित्तसन्ततियॉ उनके विमल विज्ञान में प्रतिबिम्बित होती हैं। यह प्रणिधि, प्रतिपरमाणु प्रतिक्षण सर्वाकार सर्ववेदन होती/कहलाती है। इस प्रणिधि में यद्यपि बाह्याकार नहीं होता फिर भी जितने सत्त्व हैं उतने सत्त्वों की चित्तसन्ततियों के विवर्तभेद होंगे वे ही बोधिसत्त्व की चित्तसन्तति के आकार हैं। बोधिसत्त्वों का तत्तत्सत्त्वों की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

चित्सन्तति–आकारोत्पत्ति का संवेदन ही तत्संवेदन अर्थात् सर्वज्ञता कहलाती है। सत्त्वों की ये स्वप्रकाश चित्तसन्ततियॉं बाह्य जड से भिन्न स्वप्रकाश हैं अत एव जड की संवेदनापत्ति नहीं है।

138. परिणामस्वरूप किसी सत्त्व की प्रश्नाकार चित्तसन्तति की स्थिति में बोधिसत्त्व की सर्ववेदन प्रणिधि कैसे होगी ?

139. यहॉं पर आरोप का तात्पर्य यह है कि जब किसी सत्त्व की सिद्धान्ता (वादा) कार चित्तसन्तति का उदय होगा उस समय बोधिसत्त्व की नियताकार प्रणिधि हो सकती है किन्तु जब प्रश्नाकार चित्तसन्तति होगी उस समय तो बोधिसत्त्व की प्रणिधि होगी कि 'मैं प्रतिविसर्जनाकार=प्रत्युत्तराकार होऊँ' और उत्तर है नहीं; फलस्वरूप सत्त्व की प्रष्नाकार चित्तसन्तति की बोधिसत्त्व की नियत प्रणिधि न होने से सर्ववेदन कैसे होगा? समाधान का आशय यह है कि जब सन्तानान्तर है तो प्रत्युत्तराकार चित्तसन्तति होगी ही फलस्वरूप तदाकार प्रणिधि होने में कोई परेशानी नहीं है। यदि सन्तानान्तर न हो तो भी प्रश्नाकारोपकरणसम्पत्ति की ही प्रणिधि होगी।

140. देखें, महाभारत के आदिपर्व के सम्भवपर्व का 106 अध्याय; विशेषतः श्लोक, 01 से 17।

141. इसका तात्पर्य यह है कि चित्राद्वैत में एकोपाधि (=नीलादि) ज्ञान की उपाधि मानी जाती है जो ज्ञान से अनन्य है।

नीलादिश्चित्रविज्ञाने ज्ञानोपाधिरनन्यभाक् । (प्र. वा. 02/220)

किन्तु प्रतिवादी निराकारवादी वचनविज्ञप्ति के द्वारा उसका अनुमान करते हैं अर्थात् 'नीलादि हैं' इस वचनविज्ञप्ति से सांवृतिक अनुमान से संवृत्या असद्रूपतया स्वीकार करते है।

142. देखें, बौद्धधर्मदर्शन, आचार्यनरेन्द्रदेव ; पृ0–214।

लोक में यह संवृति दो प्रकार की होती है–तथ्यसंवृति और मिथ्यासंवृति। जिस वस्तुजात के ग्रहण में इन्द्रियों का उपघात नहीं होता अर्थात् जिसकी उपलब्धि इन्द्रियों द्वारा विना किसी दोश के होती है वह लोक में सत्य प्रतीयमान होता है और उसकी संज्ञा 'तथ्य/सत्संवृति' है। मृगतृष्णा के समान जिस वस्तुजात की इन्द्रियोपलब्धि दोशवती होती है, वह विकल्पित है, और लोक में उसकी संज्ञा 'मिथ्यासंवृति' है। दोनों प्रकार के संवृतिसत्य, सम्यग्दर्शी के लिए मृशा हैं, क्योंकि परमार्थ–दषा में संवृतिसत्य भी अलीक और मिथ्या हैं।

तथा देखें, मध्यमकशास्त्र, 24/08

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।

अथवा संवृतिः=संकेतो लोकव्यवहार इत्यर्थः। स चाभिधानाभिधेयज्ञानज्ञेयादिलक्षणः। लोके संवृतिर्लोकसंवृतिः। किं पुनरलोकसंवृतिरप्यस्ति .... । अथवा तिमिरकामलाद्यु–पहतेन्द्रियविपरीत–दर्शनावस्थास्तेऽलोकाः तेषां या संवृतिरसावलोकसंवृतिः। प्रसन्नपदा ; चन्द्रकीर्ति ।

प्रथम संवृति को सत्संवृति या तथ्यसंवृति कहा गया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

143. व्यंग्योक्ति है। अर्थात्, नहीं बचा। परमप्रामाणिक युवराज ने कह दिया अब किसी के कहने की आवश्यकता नहीं है।

144. समाधिराजसूत्र–09/42।

145. 1. न सत् 2. न असत् 3. न शून्य 4. न अशून्य ; यह माध्यमिकों की स्थितिचतुष्टय व्यवस्था है।

146. अर्थात् माध्यमिक जिसे असत् कहते हैं हम उसे सत् रूप प्रकाश(=विज्ञान) कहते हैं।

147. शब्दप्रयोग वक्ता की इच्छा पर निर्भर है। शब्द के प्रयोग अथवा अप्रयोग से शब्दाभिधेय वस्तु में कोई उपचय या अपचय नहीं होता। प्रकृत में विज्ञानवादी तत्त्व के लिए सत् शब्द का प्रयोग करते है जबकि माध्यमिक नहीं करता अथवा माध्यमिक उक्त के लिए असत् शब्द का प्रयोग करता है जबकि विज्ञानवादी नही; इससे तत्त्व की कोई वृद्धि या ह्रास नहीं होता। इसमें झगड़े की क्या बात है।

148. ज्ञानश्री यहाँ पर अपने प्रतिवादियों के भेद बता रहे हैं। वे हैं–1. प्रकाश की सत्ता मान वाले 2. आकार को विज्ञान में आरोपित करने वाले 3. अर्थक्रियाकारिता को अपूर्व साध्य मानने वाले। ज्ञानश्री यह कहना चाहते हैं कि माध्यमिक तो हमारे स्वयूथ्य बन्धु हैं उनके और हमारे मत में कोई मौलिक भेद नहीं है केवल शब्द प्रयोग का भेद है, तत्त्व का नहीं। उनसे हमारा कोई कलह नहीं है।

149. विज्ञानवाद के अनुसार चतुःशिखरीवियुक्त चतुष्टयावस्था का स्वरूप यह है – 1. न असत् 2. न सत् 3. न द्वितय 4. न अद्वितय।

150. श्लेष द्वारा अर्थ किया जा सकता है–साकारज्ञान की श्री=शोभा के अनुगामिता द्वारा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पद्‌मश्री मुकुन्द लाठ

ऐसों को देख कर ही कहा गया होगा 'अमृतं प्रिय दर्शनम्'

(8 अक्टूबर 1937 – 6 अगस्त 2020)

भारतीय ज्ञान–परम्परा अपने स्वरूप में एक सावयवी विचार–तंत्र है। इसीलिए भारतमूलीय ज्ञान की विभिन्न विधाओं को एकबारगी एक–दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता। सभी प्रकार की विधायें यहाँ एक समग्र दृष्टि के अनुशयी होकर ही अपनी–अपनी प्रस्थिति और भूमिका में फलवती होती हैं। मुकुन्द लाठ भारतीय विचार–तंत्र के इसी स्वरूप में गहरी पैठ रखने वाले अपने ढंग के अनोखे अध्येता, विचारक और सांस्कृतिक इतिहासकार थे। उन्होंने साहित्य, संगीत, नाटक, नृत्त और सौन्दर्यशास्त्र, तथा धर्म, दर्शन, और संस्कृति जैसे विषयों पर बहुआयामी लेखन करते हुए भारतीय ज्ञान–व्यवस्था के समग्रतावादी स्वरूप को मौलिक तरीके से उद्‌घाटित किया है। कलकत्ता के एक संभ्रान्त परिवार में जन्मे मुकुन्द लाठ (8 अक्टूबर, 1937) अपनी प्रारम्भिक शिक्षा संत जेम्स स्कूल, कलकत्ता से 'सेनियर कैम्ब्रीज' के रूप में पूरा करने के उपरान्त उन्होंने अंग्रेजी साहित्य में प्रतिष्ठा के साथ स्नातक की उपाधि (1956) दिल्ली विश्वविद्यालय से प्राप्त की थी। पुनः जादवपुर विश्वविद्यालय, कलकत्ता से संस्कृत भाषा एवं साहित्य में स्नातकोत्तर उपाधि (1965) प्राप्त कर वे पश्चिमी बर्लिन (1966–68) गये जहाँ उन्होंने तुलनात्मक संगीत अध्ययन संस्थान से सम्बद्ध होकर प्राचीन भारतीय संगीत से सम्बन्धित 'दत्तिलम्' नामक एक दुर्लभ ग्रन्थ पर कार्य किया। वस्तुतः इसी ग्रन्थ पर कार्य करते हुए मुकुन्द लाठ ने प्राचीन भारत में संगीत–चिन्तन और गान्धर्व विद्या के गहन अवधारणात्मक गुण–सूत्रों को आत्मसात् किया था। इसी अध्ययन के आधार पर उन्हें दिल्ली विश्वविद्यालय से पी–एच्.डी. की उपाधि (1976) प्राप्त हुई थी। एक शोधप्रज्ञ अध्येता और प्रवक्ता के रूप में उन्होंने अपने संस्थागत

ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, Sl.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अकादमिक जीवन की शुरूआत प्राचीन इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (1973) से किया और वहीं से स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति (1997) प्राप्त कर मुकुन्द लाठ अपने चिन्तन–मनन और अध्यवसाय में अद्यतन निरत बने रहे। वे न केवल शास्त्रीय संगीत के प्राचीनतम और अधुनातन रूपों के पारखी रहे बल्कि इन्होंने अपने संगीतशास्त्रीय स्वाध्याय को पण्डित मणिराम और पण्डित जसराज के साथ संगीत–साधना में भी रूपान्तरित किया था। जयपुर का उनका अपना घर एक एकेडेमी की तरह था। श्रेष्ठ और दुर्लभ पुस्तकों के विपुल संग्रह से सुसज्जित उस घर में वे एक संभ्रान्त और सतोगुणी अध्येता की तरह रहते थे। अपने विचार–कर्म को वह संगीत की तरह साधते और निभाते थे।

मुकुन्द लाठ के अध्यवसायी जीवन की फलश्रुतियाँ कई एक पुस्तकों के माध्यम से वाग्–विग्रहित हुई हैं। संगीत के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं अवधारणात्मक अध्ययन में इनकी विशेष अभिरुचि रही। इस क्षेत्र में 'ए स्टडी ऑफ दत्तिलम्' (1978), 'दि हिन्दी पदावली ऑफ नामदेव' (1989), संगीत एवं चिन्तन (1992) तथा 'ट्रांसफार्मेशन एज क्रियेशन' (1998) मुकुन्द लाठ की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। भारत में आत्मकथा की प्राचीन शैली और परम्परा की खोज भी मुकुन्द लाठ की साहित्यिक अभिरुचि का विषय रहा। इस विधा में उन्होंने कल्पसूत्र (1977) का अंग्रेजी अनुवाद किया। कल्पसूत्र प्राकृत भाषा में वर्द्धमान महावीर की जीवनी है। इसके अतिरिक्त 'अर्द्धकथानक : हॉफ ए टेल' (1981) इनकी एक प्रसिद्ध कृति है जो बनारसीदास नामक 17वीं शताब्दी के एक जैन व्यापारी एवं साधक द्वारा आत्मालोचनपूर्वक हिन्दी में लिखी गई आत्मकथा के अध्ययन पर आधारित है। मुकुन्द लाठ एक कवि भी रहे और इनकी काव्य प्रतिभा 'स्वीकरण' (1991), 'अनरहनी रहने दो' (2013) और 'अंधेरे के रंग' (2018) शीर्षक से प्रकाशित तीन कविता संग्रहों के माध्यम से अभिव्यक्त हुई हैं। इन्होंने 'तिर रही वन की गंध' (1998) शीर्षक से कुछ प्राकृत कविताओं का हिन्दी अनुवाद एवं 'गगनवट'(2019) शीर्षक से महत्त्वपूर्ण संस्कृत मुक्तकों का एक लम्बी भूमिका के साथ अनुवाद भी किया है। अनुवाद के क्षेत्र में उन्होंने 'वास्तुविद्या' (2004) नामक ग्रन्थ का भी अंग्रेजी अनुवाद किया है जो वास्तुशास्त्र सम्बन्धी 15वीं शताब्दी का ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'काण्ट के दर्शन का तात्पर्य' (2020) शीर्षक से भारत के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रसिद्ध दार्शनिक के.सी. भट्टाचार्य की बाँग्ला कृति का भी हिन्दी अनुवाद किया है। मुकुन्द लाठ वैसे तो दर्शन–परम्परा में दीक्षित व्यक्ति नहीं रहे, फिर भी धर्म–नीतिपरक दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में उन्होंने उल्लेखनीय योगदान किया है। 'धर्म–संकट' (2004), 'क्या है? क्या नहीं है?' (2009), 'कर्म चेतना के आयाम' (2009), 'संगीत और संस्कृति' (2019) एवं 'भावन' (साहित्य, कला और संस्कृति पर केन्द्रित लेखों का संग्रह–2020) नामक पुस्तकों के माध्यम से उन्होंने भारतीय दार्शनिक चिन्तन के एक ऐसे आयाम को उद्‌घाटित किया है, जिसमें वह सम्प्रति अकेले खड़े व्यक्ति रहे हैं। वस्तुतः उपर्युक्त कृतियों के माध्यम से मुकुन्द लाठ की पहचान एक ऐसे सांस्कृतिक इतिहासकार के रूप में हुई जो भारतीय वाङ्.मय के अनछुए पहलुओं को अपने मौलिक विमर्श के साथ उजागर करते हैं। भारतीय कला–चिन्तन और कला–साधना के दुर्लभ पक्षों को उन्होंने अपने बहुविध राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्याख्यानों के माध्यम से बुद्धिजीवियों के बीच विमर्श का विषय बनाया। उनके सारस्वत तप को एक ओर बिड़ला फाउण्डेशन के 'शंकर पुरस्कार' (2000), मध्य–प्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के 'नरेश मेहता स्मृति वाङ्.मय सम्मान' (2003) एवं संगीत नाटक अकादमी सम्मान' (2008) से सम्मानित किया गया तो दूसरी ओर कला के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान के लिए भारत सरकार द्वारा उन्हें 'पद्मश्री सम्मान' (2010) भी प्रदान किया गया। सम्मान तो दुनिया में बहुतों को मिलता है, लेकिन मुकुन्द लाठ जैसे कुछ ही लोग होते हैं; जिनके सम्मानित होने से सम्मान मुदित होता है।

संगीत–चिन्तन और धर्म–नीति विषयक भारतीय विमर्श मुकुन्द लाठ के अध्यवसाय के दो ऐसे विशिष्ट क्षेत्र रहे हैं जहाँ उन्होंने ज्योतिरग्र और परिपृच्छाधर्मी होकर महत्त्वपूर्ण चिन्तन किया है। संगीत जैसी साधना, जिसे शिल्प–मात्र समझा जाता है, ऐसा जिसका सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं, उसे विचार की मूलाकृति का दृष्टान्त बनाकर स्वयं संगीत में यह देखना कि उसमें भी कुछ ऐसा है जो विचार जैसा है, जो चिन्तन–धर्मी है – वस्तुतः भाव और बुद्धि में एक विशेष प्रकार की जुगलबंदी देखना है। मुकुन्द लाठ ने इस जुगलबंदी को अपने संगीतविषयक विमर्श में बड़े ही विस्तार से साधा है। यद्यपि भरत से लेकर अभिनवगुप्त पर्यन्त कलाविषयक अवधारणात्मक चिन्तन की एक समृद्ध परम्परा रही है, लेकिन इस पारम्परिक और शास्त्रीय

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विमर्श में नाट्यार्थ और काव्यार्थ को जितना केन्द्रीय स्थान प्राप्त हुआ है उतना संगीत को नहीं। संगीत को नाट्य का उपस्कारक एक अनुषंगी कला के रूप में ही स्वीकार किया गया है। यहाँ तक कि आपाततः यह भी मान लिया गया कि संगीत में रस की भी निष्पत्ति नहीं होती। मुकुन्द लाठ की विशेषता यह है कि उन्होंने संगीत को कलात्मक स्वायत्तता प्रदान करते हुए विचार की उदगृहीत भूमि पर न केवल उसे विमर्श का विषय बनाया बल्कि यह भी प्रतिपादित किया कि नाट्य आदि कलाओं की तरह संगीत में भी रस की निष्पत्ति होती है। संगीत की सैद्धान्तिकी और कलात्मक स्वायत्तता के लिए यह प्रतिपादन अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः धुन, राग और आलाप के व्यूहबद्ध ताने–बाने में व्याकृत हुआ संगीत अपनी संरचना में भावचित्त के विमर्श का एक पूरा संसार अपने में समोये रहता है। संगीतविषयक परिपृच्छाधर्मी अध्यवसाय उसी संसार को, भावलोक को, पुंखानुपुंख उद्घाटित करता है। इस उद्घाटन में राग और धुन, स्वर और शब्द तथा रस और सत्य संगीतशिल्प के घटक नहीं बल्कि संगीत–विचार के प्रत्यय बन जाते हैं और इस तरह संगीत–साधना के अन्दर ही संगीत–विचार वैसे ही व्याकृत होता है जैसे संगीत।

विचार और संगीत दोनों के मर्म शुद्ध बुद्धिगम्य तत्त्व हैं। प्रथम का मर्म प्रत्ययात्मक है तो दूसरे का शुद्ध धुन। संगीत में शुद्ध धुन ही प्रत्यय स्थानीय हो जाते हैं। ये प्रत्यय और धुनें व्यवहार लोक में उतरने पर अनेक रूपों और रागों में अभिव्यक्ति पाते हैं। अभिव्यक्ति की यह अनेकरूपता प्रत्यय और धुनों के चरितार्थन के लिए अनिवार्य होती है। चरितार्थन की इस विविधता में ही विचार और संगीत के तत्त्व अर्थ का विस्तार और अभिवृद्धि पाते हैं। अब संगीत के तत्त्व (राग और धुन) की बुद्धिगम्यता को सन्दर्भ बनाकर मुकुन्द लाठ भारतीय और पश्चिमी संगीत में मूलगामी अन्तर को प्रतिपादित करते हुए विचारधर्मी संगीत चिन्तन के लिए व्यापक अवकाश निर्मित कर ले जाते हैं। संगीत के स्वरूपविषयक पश्चिम की एक प्रवृत्ति ऐसी है कि बाख, बीथोवन आदि की रचनायें शुद्ध बुद्धि के विषय हैं। उनका प्रयोग जो हम कानों से सुनते हैं वह उनका 'शुद्ध' रूप नहीं है, बल्कि शुद्ध रूप की छाया है। प्रयोग या व्यवहार में धुन का शुद्धबुद्धिगम्य 'परमार्थ' मलिन हो जाता है। मलिन ही नहीं, वह अनेकान्त भी हो जाता है। इस अनेकान्त का कारण यह है कि बाख या बीथोवन ने अपनी धुनें स्वरलिपि में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बद्ध की हैं। इन स्वरलिपियों को प्रयोग में उतारते समय, उनको कर्णगोचर रूप देते समय प्रयोगकर्त्ता को उसे अपनी पकड़ से निभाना पड़ता है। दूसरे शब्दों में स्वरलिपि को अपनी तरह से समझकर अपनी तरह से उसका व्यवहार करना पड़ता है। पश्चिम में संगीतकर्मियों का ऐसा भी सम्प्रदाय है जो इस प्रायोगिक निभाव को विकार समझते हैं और इसलिए बाख–बीथोवन को सुनने की अपेक्षा रचित स्वरलिपि को पढ़ना अधिक उचित समझते हैं। ऐसा करते हुए वे अपने को शुद्ध प्रतिभा–ग्राह्य धुन के अधिक निकट पाते हैं जो वास्तव में संगीत का शुद्ध बुद्धि गोचर परमार्थ है।

अब यहाँ मुकुन्द लाठ के लिए यह देखना सम्भव हो जाता है कि पश्चिमी संगीत अपने स्वरूप में ही किस प्रकार एक प्लेटो जैसी तत्त्वदृष्टि को अपने में समोये हुए है। वह यह कि प्रतिभा–दृष्ट वस्तु का शुद्ध, अविकृत स्वभाव उसके व्यवहृत रूप में नहीं होता, बल्कि एक ऐसे अतीन्द्रिय जगत् में होता है जो शुद्ध बुद्धिगम्य है। परन्तु मुकुन्द लाठ की विचारधर्मिता यहीं व्रिश्रान्त नहीं होती। वे भारतीय संगीत में निहित तत्त्वदृष्टि को भी उतनी ही मूलगामिता से पकड़ते हैं। भारतीय परम्परा में 'साम' भी एक तरह से धुन ही है और इस धुन का सम्बन्ध भी लोकोतीर्ण प्रतिभा–दृष्ट परमार्थ से है। परन्तु यह परमार्थ प्लेटो का परमार्थ नहीं जो विकृत और छाया रूप से ही व्यवहार में अवतरित हो सकता है। साम, वास्तव में, धुन की किसी निरिन्द्रिय निर्धारित वस्तु–रूप में कल्पना नहीं है। यद्यपि साम दृष्ट है, आर्ष है, किसी उर्ध्व 'सत्य' की प्रज्ञालब्ध अभिव्यक्ति है। यह इन्द्रिय–बोध मात्र की दृष्ट या लौकिक उपलब्धि नहीं। परन्तु धुन रूप में उसका स्वरूप किसी इन्द्रियातीत बुद्धि जगत् की वस्तु नहीं है। ऐसा भी नहीं कि साम किसी अतिक्रामी लोक में ही निर्विकार रहता हो और यहाँ इस लोक में विकृत रूप में ही प्रकट हो सकता है। साम अपने इन्द्रियग्राह्य रूप में ही ऋषि दृष्ट है। ऋक् मंत्रों की अक्षरयोजना जैसे अपने शब्द रूप में ही आर्ष है वैसे ही साम अपने स्वर रूप में ही, स्वरानुक्रमी स्वर–योजना में ही श्रुति है। साम किसी अतीन्द्रिय लोक में साम नहीं होता बल्कि जिसे हम गाते हैं, सुनते हैं, वही साम है। होने को तो स्वरलिपि का आधार साम में भी होता है, परन्तु साम के लिए लिपि सहायक है उसके संरक्षण के लिए; स्वरलिपि ही उसका मूल–रूप नहीं है, जैसा कि बाख–बीथोवन में है। पश्चिम में संगीत और लिपि का सम्बन्ध भाषा और लिपि जैसा ही है, लेकिन भारतीय परम्परा में संगीत के विदग्धतम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शास्त्रीय रूप में आलाप ही प्रधान है। इस तरह कहा जा सकता है कि मुकुन्द लाठ का संगीत–विमर्श संगीत के तत्त्व और विभिन्न संस्कृतियों में अभिव्यक्त उसके विविध रूप–कलापों, उनके अन्तर्सम्बन्धों तथा संगीतशास्त्र को अन्य विचारधर्मी शास्त्र परम्पराओं के साथ अन्तःपदीय सम्बन्ध में रखते हुए एक व्यापक अवधारणात्मक योजना में संगीत को विचार का विषय बनाता है। पता नहीं, पश्चिम में इस प्रकार के चिन्तन की कोई परम्परा रही भी है या नहीं; परन्तु भारतीय परिदृश्य में विचारधर्मी संगीत–चिन्तन का मुकुन्द लाठ ने नया ही द्वार खोला है।

मुकुन्द लाठ के अध्यवसाय का दूसरा महत्त्वपूर्ण क्षेत्र उनका धर्म–नीतिविषयक चिन्तन रहा है। इस क्षेत्र में उन्होंने भारतीय नीतिमीमांसा के गहन गुण–सूत्रों को उद्घाटित करते हुए उसका बिलकुल अभिनव तरीके से आलोचनात्मक अनुशीलन किया है। उनका यह अनुशीलन शास्त्र–परम्परा के अन्दर से उद्भूत हुआ विमर्श है, लेकिन इस विमर्श में शास्त्र प्रमाण रूप में प्रस्तुत नहीं हुआ है बल्कि विचार की स्वकीय भूमि पर शास्त्र को उद्गृहीत कर उसे एक नया सौष्ठव प्रदान किया गया है। भारतीय नीति–चिन्तन के प्रति एक बात जो प्रायः आलोचनात्मक स्वर में कही जाती है वह यह कि भारत में विधि–निषेधमूलक और आचार–संहितपरक नैतिक चिन्तन का तो समृद्ध इतिहास रहा है; परन्तु यहाँ नैतिक–दार्शनिक चिन्तन उस रूप से व्यवस्थित रूप में नहीं हुआ है जितना कि व्यवस्थित रूप में इस प्रकार का चिन्तन ग्रीक दार्शनिकों और आधुनिक पाश्चात्य नैतिक चिन्तकों ने किया है। पुनः भारत में यद्यपि तत्त्वचिन्तन बहुत उत्कृष्ट कोटि का और व्यवस्थित रूप में हुआ है लेकिन स्वायत्त रूप में नैतिक दार्शनिक चिन्तन उस प्रकार से नहीं हुआ है। मुकुन्द लाठ के धर्म–नीतिविषयक चिन्तन की मौलिकता इस बात में निहित है कि उन्होंने भारतीय तत्त्वचिन्तन जो मूलगामी रूप से मनुष्य के पारमार्थिक स्वरूप से सम्बन्धित है, उसी का अवलम्ब लेकर उसी से अनुप्राणित भारतीय नीति के प्रवृत्तिमूलक व्यवहार–सौकर्य का गहन विश्लेषण उसके सम्भव सभी निष्पत्तियों के साथ की है। आत्मचेतन हुई चेतना के जगद्भाव में ही कर्तृत्व–भोक्तृत्व, व्यष्टि–समष्टि, स्वार्थ–परार्थ के बीच श्रेय–प्रेय, हेय–उपादेय, औचित्य–अनौचित्य और प्रवृत्ति–निवृत्ति का प्रश्न सार्थक रूप से उपस्थापित होता है। परन्तु ऐसे प्रश्न अपने आपमें इतने बड़े परिप्रेक्ष्य को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लिये रहते हैं कि 'किं कर्म किमकर्मेति' का विवेक और निर्धारण अक्सर ही 'धर्मसंकट' जैसी स्थिति में पर्यवसित हो जाता है। गीता में 'कवयोऽप्यत्र मोहिता' और 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' तथा 'कर्मणा गहनो गतिः' कहते हुए इस स्थिति को संकेतित भी किया गया है। मुकुन्द लाठ ने ब्राह्मण ग्रन्थों, गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों और धर्मशास्त्रीय परम्परा के विभिन्न स्मृतियों, नीति ग्रन्थों तथा उपनिषद्, गीता, महाभारत और रामायणादि में यत्र–तत्र बिखरे हुए एतद्विषयक संवेदनशील अर्थ–गर्भ सन्दर्भों एवं उपाख्यानों को स्वयं की अवधारणात्मक योजना और स्वयं की पदावली में ग्रथित करते हुए आत्म प्रकाशित धर्मबोध में मूलित 'औचित्य मीमांसा' के एक सम्पूर्ण तंत्र को पुनर्गठित किया है। यह पुनर्गठनात्मक चिन्तन जातीय रूप से भारतीय है और इस कारण पशु उद्भव से मुक्त आत्मचेतन मानवी परिस्थिति को ही नैतिकता का प्रस्थान बताती है। इस प्रकार मुकुन्द लाठ ने यद्यपि अपनी 'औचित्य मीमांसा' को विशुद्ध भारतीय भूमि पर खड़ा किया है तथापि उन्होंने सांस्कृतिक तटस्थता बरतने का हर सम्भव प्रयास भी किया है और इस कारण उनका 'औचित्यविमर्श' मानवोचित सार्वभौमिकता को लिये हुए है।

मुकुन्द जी के स्वास्थ्य में इधर कुछ महिनों से उतार–चढ़ाव बना ही रहता था। दूरभाष पर जब कभी सम्पर्क होता तो मेरे 'प्रणाम' के जवाब में 'जीते रहो' से हमलोगों की वार्ता शुरू होती और अन्त में जब हम यह कहते कि अपने स्वास्थ्य का खयाल रखिये तो उक्सर वह यही दुहराते कि देह की तबियत का बनना–बिगड़ना तो लगा ही रहता है; ध्यान रहे कि चेतना का स्वास्थ्य न बिगड़ने पाये। अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च – मुकुन्द जी अपनी चेतना का स्वास्थ्य कभी बिगड़ने नहीं दिये। इस दौरान भी वह ऋग्वेद की ऋचाओं के अन्तर्नाद सुनते रहे और अपनी भावन शैली में उन्हें हिन्दी में अनूदित भी करते रहे। अर्थर्ववेद के पृथ्वीसूक्त का अनुवाद तो उन्होंने पूरा कर लिया था। परन्तु ऋग्वेद की ऋचाओं का श्रवण, मनन और निदिध्यासन को वाग्–विग्रहित करते हुए अचानक चल बसे —– दस द्वारे का पींजरा तामे पँछी पौन, रहने का आचरज जाने का आचरज कौन। वस्तुतः चेतना की विकास यात्रा और उस विकास यात्रा में मानव देहधारी आत्मचेतन चेतना की पुरुषार्थ–साधना की अन्तर्यात्रा को मूलगामी रूप से समझना ही मुकुन्द जी के अध्यवसाय का प्रस्थान बिन्दु रहा है। मुकुन्द जी जिस देह को धारण कर इस अन्तर्यात्रा के सहयात्री हुए थे, वह देह तो 6

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अगस्त 2020 को छूट गया; परन्तु, यह अन्तर्यात्रा तो जारी रहेगी। अन्तहीन अन्तर्यात्रा के इस पड़ाव पर मुकुन्द जी के माध्यम से चित् की आत्मगवेषणा अथवा 'भावन' जिस रूप में वाग्–विग्रहित हुई है; वह पाथेय बनकर बहुतेरे समानशील आत्मचेतन देहधारियों को कदर्म–कलुषों और भटकाओं से न केवल बचाती रहेगी बल्कि आत्मचेतन चेतना की साभ्यतिक–सांस्कृतिक पुरुषार्थ–साधना के ऋजु मार्ग को उत्तरोत्तर साधती हुई प्रशस्त भी करती रहेगी।

अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ISSN 0974 0053

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection